

॥ श्रीः ॥

## हठयोगप्रदीपिका ।

सा च

सहजानन्दसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाऽभिधया टीकया समलंकृता

दध्यङ्कुलोत्पन्नजटाशंकरात्मजश्रीधरकृतया

मनोऽभिलाषिण्या भाषाव्याख्ययोपेता ।

मुम्बईनगरे

निर्णयसागरसमाख्ये मुद्रणयंत्रालये

वेदश्रविय० द्रमु० वसुधा१प्रभिते शालीवाहनशके १८०४

सवाईजयपुरनिवासिना दध्यङ्कुलोत्पन्नेन ज्योतिर्विदा श्रीधरेण

खंडूभाईनागभाईदेसाईसाहाय्येन मुद्रापयित्वा प्रकाशिता ।

इमां च १८६७ संख्याकराजनियमस्य २५ संख्यांशानुसारेण लेखांकदां कृत्वा ग्रंथकर्त्री

सर्वेऽधिकाराः स्वाधीनाः स्थापिताः ।

मौल्यं सार्धं रूप्यकद्वयम् २॥.

## सूचना.

---

यह “हठयोगप्रदीपिका” नामक ग्रंथ नीचे लिखेले ठिकानेसँ कीमते २॥  
रु० और टपालमासूल= तीन आने रोकडे भेजेसँ वीकता मिलनेका ठिकाणाः—  
मुंबईमध्ये मारवाडी सट्टाबजार घर नंबर ४२६ में श्रीधर जटाशंकरके मका-  
नपर मिलेगा. और मुम्बादेवीपास पंडित ज्येष्ठाराम मुकुंदजीकी दुकानपर  
मिलेगा.



## प्रस्तावना.

योगविषयमें हठप्रदीपिका अतिसुंदर है स्वात्माराम योगीन्द्रनें या समयके मनुष्यनकूं सुबोधके लियें जो शिवजीनें पार्वती जीकूं हठविद्याको उपदेश कियो ये प्रसंग महा-काल योगशास्त्रमें वर्णन किया है और परम महान् ब्रह्माजीनें वी ये हठविद्या सेवन करी है जिस ऊपर योगी याज्ञवल्क्य स्मृती है “हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः” और श्रीकृष्णनें अर्जुनकूं गीताजीमें योग कह्यो है और श्रीमद्भावतमें उद्धवजीकूं कह्यो है और शिवजी तो योगी प्रसिद्ध हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इननें ये विद्या सेवन करी है यातें या विद्याकूं नारदादिक और श्रीशुकादिक और याज्ञवल्क्या-दिक ज्ञानीनमें मुख्य इननें सेवन करी है और शिवजीसुं मत्स्येंद्रनाथनें योग श्रवण कियो मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ये दोनो हठ विद्याके जानवेवाले हुये और गोरक्ष-नाथकी कृपासूं स्वात्माराम योगीन्द्र हठविद्या प्राप्त हुये जा स्वात्मारामनें मुमुक्षू जननके हितके लियें हठप्रदीपिकानामक योगका ग्रंथ किया है. जिसमें उपदेश ४ च्यार हैं तिनमें प्रथम उपदेशमें यम नियम सहित आसन प्रकर्ण कह्यो है हठको प्रथमांग आसन है यातें प्रथम आसन कहै और ये आसन देहको और मनको चाञ्चल्यरूप जो रजोधर्म ताकूं नाशकरकें स्थिरता करें हैं यातें प्रथम आसन कहे.

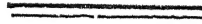
दूसरे उपदेशमें प्राणायामको प्रकर्ण कह्यो है और प्राणायामके करनेसूं मलशुद्धी होय है और मलशुद्धी हुयेसूं हठसिद्धी होय है और प्राणायामसूं वायु स्थिर होय है और वायुके स्थिर होयेसूं चित्तस्थिर होय है और वायु और चित्त इन दोनोनके स्थिर होयेसूं योगी दीर्घजीवी होय और ईशताकूंवी प्राप्त होय है और मनकी स्थिरता-सूं सर्व सिद्धी हांय हैं यातें प्राणायाम विधान कह्यो.

और तृतीय उपदेशमें महामुद्रादिक दशमुद्रा कही हैं मुद्रानके उपदेश कर्त्ता गुरू-नके वाक्यमें तत्पर रहै और आसन कुंभकादिकनकूं करै और आहार विहार चेष्टादिक विषयनमें तत्पर रहै और महामुद्रादिकनको अभ्यास वारंवार आवर्तन तामें सावधान रहे तो अणिमादिक सिद्धीनकरकें सहित मृत्युकूं वचाय जाय.

और चतुर्थ उपदेशमें प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम कह्यो है वो समाधिक्रम केसो है वहोत उत्तम है और आदिनाथ शिवजीनें संपादन किये कोटिन समाधिके प्रकार

तिनमें उत्कृष्ट है और कालकू निवारण करवेवालो है और योगीकू स्वेच्छापूर्वक देह-  
त्याग करवेमें योग्य है और तत्त्वज्ञानके उदयकरके वासनाको क्षयपूर्वक जीवन्मुक्ति  
सुखको उपाय है और प्रारब्ध कर्मको क्षयकरके जीव और ब्रह्मको अभेदकरके आत्यं-  
तिक ब्रह्मानंद प्राप्तिरूप मुक्तिको करवेवालो है एसो समाधिक्रम कह्यो है.

एसी ये हठप्रदीपिका योगमार्गके जानवेवारे लोगोकू बहोत योग्य है याके ऊपर ब्रह्मा-  
नंदकी करी हुई जोत्स्नाभिधा टीका संस्कृत है सो हठप्रदीपिका प्राचीन हे हमनें  
बड़े श्रमसूं ये संपादन करी हे सो ये हमनें लोंगोंकू उपयोगके ताई छपायी है कारण  
ये है के योगवर्णन श्रीमद्भागवतादिकनमें किया है और योगका काम सब शास्त्रमें  
पडता हैं और लोग योगकू जानते नहीं हैं. कारण योगशास्त्र सहसा मिलते नहीं हे  
इस्सें योगमार्ग प्रवर्त नहीं हुया यातैं हमनें लोगोकू ये उपयोग होनेकेवास्ते हठप्रदीपि-  
का मूल और संस्कृत टीका और इसका भषांतर टीका हमनें बनायकरके और खूब  
श्रमसूं शुद्धकरके हमने छपाया है सो सब सज्जन पुरुषनकू मेरे ऊपर कृपाकरके इस-  
कू मान्य करवेमें आवे ॥



## हठयोगप्रदीपिकानुक्रमणिका.

॥ अथ प्रथमोपदेशः ॥

	पृष्ठ.		पृष्ठ.
१ मंगलाचरण .....	१	२१ धनुरासन .....	१७
२ गुरुनमस्कार मंगलाचरण ....	२	२२ मत्स्येन्द्रासन फलसहित ....	१८
३ हठयोगसे राजयोगसिद्धि ....	३	२३ पश्चिमतानासन फलसहित ....	१९
४ ज्ञानकी सातभूमि अर्थसहित	४	२४ मयूरासन गुणसहित ....	२०
५ हठविद्याकी श्लाघा ... ..	५	२५ प्रयोजनसहित शवासन ....	२१
६ महासिद्धनके नाम.....	६	२६ सिद्धासन .....	२२
७ योगीनको आधार हठ .....	८	२७ मतांतरका सिद्धासन .....	२३
८ हठविद्याकूं गोप्यपनो .....	९	२८ सिद्धासनकी श्लाघा .....	२३
९ हठाभ्यासके योग्य देश ....	१०	२९ पद्मासन .....	२५
१० मठलक्षण.....	११	३० दूसरा पद्मासन.....	२६
११ योगाभ्यासके नाशकर्ता.....	१३	३१ सिंहासन .....	२८
१२ योगकी सिद्धीके कर्त्ता ....	१३	३२ भद्रासन .....	२९
१३ यमनियम .....	१४	३३ हठाभ्यासका क्रम.....	३०
१४ आसन प्रकर्ण .....	१४	३४ योगीनका मिताहार .....	३१
१५ स्वस्तिकासन .....	१५	३५ योगीनको अपथ्य .....	३२
१६ गोमुखासन .....	१६	३६ योगीनका पथ्य .....	३४
१७ वीरासन .....	१६	३७ योगीनकूं भोजननियम .....	३४
१८ कूर्मासन .....	१६	३८ अभ्यासते सिद्धि .....	३५
१९ कुक्कुटासन.....	१७	३९ योगांग अनुष्ठानकी अवधि....	३६
२० उत्तानकूर्मासन.....	१७	इति प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥	

॥ अथ द्वितीयोपदेशः ॥

४० प्राणायामप्रकर्ण .....	३७	४६ प्राणायामके अभ्यासका काल	
४१ प्राणायाम प्रयोजन .....	३७	और अवधि .....	४१
४२ मलशुद्धीकूं हठसिद्धि.....	३८	४७ उत्तम मध्यम कनिष्ठ प्राणायाम	४१
४३ मलशुद्धीकर्त्ता प्राणायाम ....	३८	४८ प्राणायामते प्रस्वेदहोनेमें वि-	
४४ प्राणायाममें विशेषता .....	४०	शेषता ....	४३
४५ प्राणायामका अर्वांतर फल....	४०	४९ अभ्यासकालमें दुग्धादिनियम	४४

५० योग्य अयोग्यका फल .....	४४	६५ सर्व कुंभकनकी साधारण युक्ति .....	५६
५१ भेदके अधिकहोनेमें उपाय....	४६	६६ सूर्यभेदन गुणसहित .....	५८
५२ षट्कर्म .....	४६	६७ योगाभ्यासक्रम .....	५८
५३ धौतीकर्म फलसहित .....	४७	६८ उज्जायी .....	६१
५४ बस्तीकर्म गुणसहित .....	४८	६९ सीत्कारी कुंभक .....	६३
५५ नेतीकर्म गुणसहित .....	५०	७० शीतली गुणसहित .....	६४
५६ त्राटकर्म गुणसहित .....	५१	७१ भस्त्रिका पद्मासनसहित ....	६५
५७ नौलीकर्म गुणसहित .....	५२	७२ भ्रामरीकुंभक .....	६९
५८ कपालभाती कर्म गुणसहित....	५२	७३ मूर्च्छाकुंभक .....	७०
५९ षट्कर्म प्राणायामके उपकारी	५३	७४ छाविनीकुंभक .....	७०
६० मतांतरमें षट्कर्म असंमत ....	५३	७५ प्राणायामके भेद .....	७०
६१ गजकरणी .....	५४	७६ हठाभ्यासमें राजयोगप्राप्ति-	
६२ प्राणायामका अभ्यास आव-		प्रकार .....	७३
श्यक .....	५४	७७ हठसिद्धीके लक्षण .....	७४
६३ विचित्रकुंभकनको मुख्य फल	५५	॥ इति द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥	
६४ कुंभकके भेद .....	५६		

## ॥ अथ तृतीयोपदेशः ॥

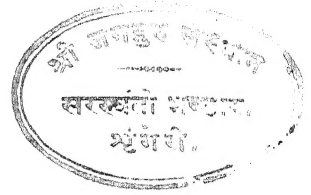
७८ कुंडलीकूं सर्वयोगका आश्रय	७५	९३ गोमांस और अमरवारुणीका-	
७९ कुंडलीकेबोधका फल .....	७५	अर्थ .....	९३
८० सुषुम्नावाचक शब्द .....	७६	९४ अर्थसहितउड्डियानबंध .....	९७
८१ दश महामुद्रा .....	७६	९५ मूलबंध .....	९९
८२ महामुद्राके फल .....	७६	९६ मतांतरका मूलबंध .....	९९
८३ अष्टसिद्धीनके अर्थ .....	७७	९७ मूलबंधके गुण .....	१००
८४ महामुद्रा .....	७८	९८ जालंधर बंध .....	१०२
८५ महामुद्राभ्यासक्रम .....	८०	९९ जालंधरपदका अर्थ .....	१०३
८६ महामुद्रानके गुण .....	८१	१०० जालंधरके गुण .....	१०३
८७ महाबंध .....	८२	१०१ तीनों बंधनका उपयोग .....	१०४
८८ महावेध .....	८३	१०२ देहका जराकरण .....	१०५
८९ इन तीनों मुद्रानका पृथक् साधन	८६	१०३ गुणसहित विपरीतकरणी ....	१०६
९० स्वरूपलक्षणसहित खेचरी....	८७	१०४ फलसहित वज्रोली .....	१०८
९१ खेचरीसाधन .....	८८	१०५ वज्रोलीके अभ्यासमें उत्तरसा-	
९२ खेचरीके गुण .....	८९	धन .....	११०

	पृष्ठ.		पृष्ठ.
१०६ वज्रोलीके गुण.....	१११	११२ शक्तिचालन .....	११७
१०७ सहजोली .....	११२	११३ कंदका स्थानस्वरूप .....	१२०
१०८ अमरोली .....	११४	११४ राजयोगविना आसनादिक व्यर्थ १२५	
१०९ स्त्रीनकी वज्रोलीसाधन.....	११५	११५ मुद्रोपदेष्टा गुरूकी श्लाघा ....	१२६
११० स्त्रीनकी वज्रोलीकेफल ....	११६		
१११ कुंडलीकरके मोक्षद्वारको भेदन ११७		॥ इति तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥	

॥ अथ चतुर्थोपदेशः ॥

११६ मंगलाचरण .....	१२८	१२९ खेचरीमुद्रा ....	१५३
११७ समाधिक्रम .....	१२८	१३० मनके लयसूं द्वैतका वी लयहे १५९	
११८ समाधिवाचक .....	१३०	१३१ नादानुसंधानरूप मुख्योपाय १६१	
११९ राजयोगकी श्लाघा.....	१३१	१३२ शांभवीमुद्राकरके नादानुसंधान १६२	
१२० समाधिसिद्धीसूं अमरोल्यादिक सिद्धि .....	१३३	१३३ पराङ्मुखीमुद्राकरके नादानुसं- धान.....	१६३
१२१ हठाभ्यासविना ज्ञान मोक्षकी सिद्धी नहीं .....	१३३	१३४ नादकी च्यार अवस्था.....	१६३
१२२ प्राणमनकी लयरीति .....	१४०	१३५ आरंभावस्था .....	१६३
१२३ प्राणके लयसूं कालका जय....	१४०	१३६ घटावस्था .....	१६४
१२४ लयका स्वरूप .....	१४८	१३७ परिचयावस्था ....	१६५
१२५ शांभवी मुद्रा .....	१४९	१३८ निष्पत्ति अवस्था .....	१६६
१२६ उन्मनी मुद्रा .....	१५०	१३९ प्रत्याहारादि क्रमकरके समाधि १६८	
१२७ उन्मनीविना और तिरवेको उ- पाय नहीं... ..	१५१	१४० नानाप्रकारके नाद.....	१६९
१२८ उन्मनीभावनाकूं कालनियम- का अभाव .....	१५२	१४१ उन्मनी अवस्थामें योगीकी स्थिति .....	१७७
		१४२ योगीनकूं ज्ञानद्वारा मुक्ति ....	१८१
		॥ इति चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥	

॥ श्रीः ॥  
**॥ हठ योग प्रदीपिका ॥**  
**॥ टीकाभाषाभ्यां समेता ॥**



प्रथमोपदेशः ।

मू० श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥  
 विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥ हठप्रदीपिका  
 ज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥ इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गो-  
 रक्षसिद्धांतहार्दम् । मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोपि भावः  
 ॥ २ ॥ मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा केवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः पर-  
 मकारुणिकः स्वात्मारामयोगीन्द्रस्तत्प्रत्युहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथ-  
 नमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचरति ॥ श्रीआदिनाथायेत्यादिना ॥ तस्मै श्रीआदि-  
 नाथाय नमोस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इ-  
 त्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआ-  
 दिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय वि-  
 ण्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणाभावस्तु । अपि-मासमघं कुर्याच्छंदो-  
 भंगं त्यजेद्विरामिति छंदोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यं । वस्तुतस्तु  
 असंहितपाठस्वीकारोपक्षया श्रीआदिनाथार्येति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तान्त्याविध्यु-

॥ भाषा ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥ मोक्षकी इच्छा वालेनके हितके  
 लिये राजयोगद्वारा मोक्षफलजामें ऐसी जो हठप्रदीपिका ताथ कन्यो चाहे ऐसे जो परमकरु-  
 णावान् स्वात्माराम योगीन्द्र सो हठयोगप्रवर्तक श्रीमान् आदिनाथ शिवजीकूं नमस्कार-  
 पूर्वक मंगलाचरण करै हैं ॥ श्रीआदिनाथायेति ॥ श्रीआदिनाथ जो शिवजी तिनके अर्थ  
 नमस्कार हो अथवा श्री आदिमे जिनके ऐसे जो नाथ श्रीविण्णु तिनके अर्थ नमस्कार हो  
 जा शिवजीने हठयोगविद्या पार्वतीजीकूं कही. (ह) कहिये सूर्य (ठ) कहिये चंद्रमा जो प्राण

मू० प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्रत्युदात्तदृष्टांतद्वयस्यापी-  
द्विविषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधे-  
यांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यै-  
रेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सु-  
धियो विभावयंतु । नमः प्रवृहीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षया-  
माह ॥ येनेति ॥ येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ  
सूर्यचंद्रौ तयो यौगो हठयोगः एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापान-  
योरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धं । तथाचोक्तं गो-  
रक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ । हकारः कीर्तितः सूर्यष्टकारश्चंद्र उच्यते । सूर्या-  
चंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यत इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठ-  
योगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोग-  
शास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमिनामुत्तर-  
भूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वं । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः ।  
तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्रा-  
जते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनाया-  
सेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनाया-  
सेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्याप्यपे-

॥ भाषा ॥

ओर अपान इन दोनोंनकू ऐक्य करवेवालो प्राणायाम ताकू हठयोग कहे हे हठयोगकू  
प्रतिपादन करे सो हठयोगविद्या. ये विद्या प्रकर्षकरके उन्नत जो राजयोग सो मंत्रयोग  
हठयोगकू आदिले अठारे योग हें वे अधरभूमी हे उनके उंची भूमी राजयोग हे राजयोग  
समाधीकू कहे हे. ये सबके ऊपर हे यापें चढवेकू इच्छाकरें जो मुमुक्षु तिनकू ये हठविद्या  
प्रकाशे हे केसी जेसैं उंचे स्थानपे चढवे वारेकू निसेनी कहा काष्टकी चढवेकी ऐसैं ये  
हठप्रदीपिका प्रकाशे हे ॥ १ ॥

अब अपने गुरुकू नमस्काररूप मंगलाचरण कर ग्रंथके विषय प्रयोजनादिक दिख्वा-

## सू० भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥

॥ टीका ॥

क्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति । श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्ध्यति इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्ध्यस्त्वानुपंगिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलं । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबंधः । ग्रंथस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबंधः । ग्रंथाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशङ्क्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिवहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तेरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च । धिनाराजयोग इत्यादिना । तथा राजयोगं अजानतां न जानंती-त्यजानंतः तेषां अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः कृपाया आकर इति वा तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानु-कंपैव हेतुरित्युक्तं । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका तां । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो

॥ भाषा ॥

वेहें ॥ प्रणम्येति ॥ अपने श्रीमान् गुरुनाथ ताय नमस्कार करकें योगी स्वात्माराम करकें केवल राजयोगके अर्थ हठविद्या कहीजाय हे राजयोग फलसहित हठयोग या ग्रंथको विषय हे । राजयोगद्वारा कैवल्य याको फल हे याकी कामना करे सोई अधिकारी ओर ग्रंथ विषय इनको प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव है सो संबंध है ॥ २ ॥

मंत्रयोग सगुणध्यान निर्गुणध्यान मुद्रादिकनकरकें राजयोगसिद्धि होय जाय, फिर हठविद्याके उपदेशकरकें कहाप्रयोजनके मंत्रयोगादिकनकरकें राजयोग नहीं सिद्ध होय हे हठयोगसंही राजयोगसिद्धि हे ये कहे हे ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिक



## हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तं । तथा च श्रुतिः । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मवि-  
दां वरिष्ठ इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे । ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समु-  
दाहता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा । सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततो  
ऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता । अस्यार्थः । शुभेच्छा इ-  
त्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्र-  
थमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहता कथिता योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा  
श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् । २ । अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽने-  
कार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनु मानसे यस्यां सा तनुमानसा  
निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः । ३ । इमास्त्रिभिः साधनभूमिकाः ।  
आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिसृभिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽतःकरणेऽहं ब्रह्मा-  
ऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् ।  
चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ ।  
वक्ष्यमाणास्त्रिभिः संप्रज्ञातयोगभूमयः । सत्त्वापत्तेरनंतरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमा-  
वुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां  
योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते । ५ । परब्रह्मातिरिक्त-  
मर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी पर-  
प्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा  
नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति ।  
एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । पूर्वमयमेव  
जिवन्मुक्त इत्युच्यते स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्त इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

बहुमतः रूप जो वह अंधकार तामे जो भ्रान्ति भ्रमताकरिकें राजयोगकूं नहीं जाने  
ऐसे पुरुषोंकूं राजयोगज्ञान हे सो कृपाके करवेवारे स्वात्माराम हे सो हठयो-  
गके प्रकाशकी करवेवाली हठप्रदीपिका ताय करें है स्वात्मारामका अर्थ ये है  
अपने आत्मामें रमणकरे ओर ज्ञानकी सात भूमिका ताय प्राप्त होय ब्रह्मवे-  
त्तानमे श्रेष्ठ होय वो स्वात्माराम होय हे. योगवाशिष्ठमे ज्ञानकी सात भूमी  
कहे है ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ परार्था-

मू० हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ॥

स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभादौरवं बो-  
तयति ॥ हठविद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धं मत्स्येन्द्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येन्द्र-  
गोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठवि-  
द्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानन्तीत्यर्थः । स्वात्मा-  
रामः स्वात्मारामनामा । अथवा शब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्ष-  
प्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञ-  
वल्क्यस्मृतिः । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः । वक्तृत्वं च मानसव्यापा-  
रपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः । तथा च श्रुतिः । यन्मनसा ध्याय-  
ति तद्वाचा वदतीति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता । शिवस्तु  
योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च  
ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शङ्कनीयं । प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्भिर्भेदां-  
शमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्व-

॥ भाषा ॥

भाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमिकाकेअर्थ विवेक वैराग्ययुक्त शमदमादिक पूर्व  
जामे तीव्र मुमुक्षारूपा प्रथमा १ श्रवणमननरूपा द्वितीया २ अनेक अर्थनकुं ग्रहण  
करवेवालो मन हे जब अनेक अर्थनकुं त्याग करके सत् एकार्थ वृत्तिप्रवाह किसी होय  
सो तृतीया ३ ये तीन तो साधनभूमि हे इन तीनों साधन भूमीने करके जब अंतःकरण  
शुद्धसत्त्व होय तब अहं ब्रह्मास्मि में ब्रह्म हूं या प्रकार कहे हे योगी. चतुर्थी सत्त्वापत्ति  
ज्ञानभूमि येही फलभूमि यामे प्राप्त हुयो जो योगी ताकुं ब्रह्मविद या प्रकार कहे हे ४ याके  
अनंतर या सत्त्वापत्ति भूमीमेंही समीप उठी हुई जे सिद्धि तिनमें नही आसक्त होय  
वाय असंसक्तिक नाम पांचमी ज्ञानभूमि कहे हैं यामे योगी प्राप्त होय ताकुं ब्रह्मवेत्तानमे  
ब्रह्मविद्भर कहे हैं ५ जामें परब्रह्मसुं व्यतिरिक्त अर्थकुं नही भावना करे वो परार्थभावि-  
नी नाम छटी ज्ञानभूमि हे यामें प्राप्त हुये योगीकुं दूसरो बोध करावे जब उठे हे यामें  
प्राप्त योगीकुं ब्रह्मविद्वरीयान् कहे हैं ६ तुर्यगा नाम सातमी भूमी यामे योगी प्राप्त होय ताकुं  
ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहे हैं पहलें ये जीवन्मुक्त कहे हैं सोही यामें स्वात्माराम पद कहें हैं ॥३॥

महात्मानकरके सेवन करी जाय हे यातें हठविद्याकुं श्लाघा करत आपकुंवी माहा-

सू० श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ॥

चौरंगी मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

॥ टीका ॥

संमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु । नास्ति बुद्धिर-  
युक्तस्य न चायुःसुखस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशांतस्य कुतः  
सुखमिति । नारायणतीर्थैरप्युक्तं । स्वातन्त्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं चचिद्वेदगतं  
च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः । अपि चात्मप्रदं  
योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयं । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः । मतो योगो  
भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतोऽतिसादरा इति ।  
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं । अत्येति तत्सर्वमिदं वि-  
दित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यमिति भगवदुक्तेः । किं बहुन । जिज्ञासुरपि  
योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तत इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं  
किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्ग-  
क्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्याया प्राप्तैश्वर्यान् सिद्धानाह ॥ श्रीआदिनाथे-  
त्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त  
इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति । मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदन्ती ।  
कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः । तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै यो-  
गमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो  
निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादि-

॥ भाषा ॥

त्मानते हठविद्याको लाभ हुये सो गौरता कहें हैं ॥ हठविद्यांहीति ॥ मत्स्येन्द्र गोरक्ष येहें  
आदिमें जिनके ऐसै जालंधरनाथ भर्तृहरि गोपीचंद्रकू आदिलेके जो हे ते हठविद्या ताय  
विशेषकर साधन लक्षण भेदफलकरजाने है योगवान् स्वात्माराम जो में हुं सो गोरक्षक  
कृपातें जानुहुं ये विद्या परम महान् ब्रह्माजीवी सेवन करते हुये ओर भगवानें वी उद्ध-  
वादिन प्रति कही हे ओर शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा  
विष्णु शिव इन करकें सेवित ये विद्या हे ॥ ४ ॥

हठयोगमें प्रवृत्तिहोय वेकू हठविद्याकरकै प्राप्त हुये हैं ऐश्वर्य जिने ऐसे जो सिद्ध तिनै  
कहै हैं ॥ श्रीआदिनाथायेत्यादिना ॥ श्रीआदिनाथ शिवजी संपूर्णनाथनके मध्यमें प्रथम

मू० मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥

कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥

कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराव्हयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

नाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्रादिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इति वदन्ति । शावरनामा कश्चित्सिद्धः आनन्दभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वन्द्वः । छिन्नहस्तपादं पुंस्त्वं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदन्ति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येन्द्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरप्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येन्द्रोऽपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा विलेशयनामा च । चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥

मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणं ॥ ६ ॥

काकचंडीश्वर इत्याव्हयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

नाथहै इनतेंही नाथ संप्रदाय प्रवृत्त हुयो ओर मत्स्येन्द्र आदिनाथके शिष्यहैं कैसैं कोईसमे महादेवजी कोई द्वीपमे स्थित हे तहां पार्वतीजीके अर्थ योग कहरहे हे वहां तीरसमीप जलमें कोई मत्स्य योगोपदेश सुनकर एकाग्रचित्त निश्चलकाय होय गयो ताय देखकर शिवजीने विचार्यो याने योग श्रवण कियो ताय ऐसो मानकर कृपालु आदिनाथने जलकरेके प्रोक्षण कियो वा जलके प्रोक्षण मात्रतें दिव्यदेह मत्स्येन्द्र सिद्ध हुयो ताय मत्स्येन्द्रनाथ कहें हैं शावरनाथ आनन्दभैरवनाथ चौरंगी ये आदिनाथतें योग प्राप्त हुये पीछे कदी पृथ्वीमें विचर रहे हे तिनके कृपालोकनतें ही कोई एक धनमें चौर हातपामजाके कटेहुये सो हातपामसहित होगयो जब वो इनकी कृपा करके मेरै हात पाम हुये ऐसैं मनमें मान उनके चरणमे नमस्कार कर कहो मोपे कृपा करो यह प्रार्थना करतो हुयो तव मत्स्येन्द्र अनुग्रह करते भये उनकी अनुग्रहतें चौरंगी या नामकर प्रसिद्ध हुयो ओर मीननाथ गोरक्षनाथ विरूपाक्ष विलेशय ॥ ५ ॥

मंथान भैरव योगी सिद्धि बुद्ध कंथडि कोरंटक सुरानंद सिद्धपाद चर्पटी ॥ ६ ॥

कानेरी पूज्यपाद नित्यनाथ निरंजन कपाली बिंदुनाथ काकचंडीश्वर ॥ ७ ॥

मू० अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिटिणिः ॥

भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥

खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरन्ति ते ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥

अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इति पूर्वोक्ता आदयो येषांते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः ।  
महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति  
हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं दंडः देहप्राणवियोगा-  
नुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्वा मृत्युं जित्वेत्यर्थः । ब्रह्मांडमध्ये विचरन्ति  
विशेषेणाव्याहतगत्या चरन्तीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते । योगेश्वराणां गतिमा-  
हुरंतर्वह्निलोक्याः पवनांतरात्मनामिति ॥ ९ ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह ॥ अ-  
शेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्या-  
त्मिकं द्विविधं । शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं  
कामादिजं । आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितं आधिदैविकं ग्रहादिजनितं । ते  
च ते तापाश्च तैस्तप्तानां सतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रयत इति समा-  
श्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेष-  
योगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवं । त्रिविधता-  
पतप्तानां पुंसां आश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयो-  
गिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

अल्लाम प्रभुदेव घोडा चोली टिटिणि भानुकी नारदेव खंड कापालिक ॥ ८ ॥

ये हैं आदिमें जिनके ऐसे तारानाथादिक ओरवी महांत सिद्ध अखंड ऐश्वर्य जिनके  
ते सब हठयोगके प्रभावतें मृत्युको दंड ताय छेदन कर कहा मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडमे  
विचरें हैं अखंडगती करकें ॥ ९ ॥

अशेषेति ॥ आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन भेदन कर तीन प्रकारकी

सू० हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह ॥ हठविद्येति ॥ सिद्धिमणि-  
माद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोग-  
विद्या परमसंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह । यतो गुप्ता हठ-  
विद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसि-  
द्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ  
विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतर-  
स्मै । याज्ञवल्क्यः । विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंग-  
विवर्जितः । कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपराय-  
णः । स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षित इति । शिश्नोदररतायैव न देयं  
वेषधारिण इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः । यद्यपि । ब्राह्मणक्षत्रियविशां  
स्त्रीशूद्राणां च पावनं । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तय इत्यादि पुराण-  
वाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपकं फलं योगे  
विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायां ।  
दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य क-  
स्यचित् । सुरेश्वराचार्यः । इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहामतः । जिज्ञासोरेव  
कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारितेसाहुः । वृद्धैरप्युक्तं । नैतदेयं दुर्विनीताय जा-

॥ भाषा ॥

ताप हे तामें आध्यात्म दो प्रकारकी ताप शरीरमें रोगादिककरकें व्यथा होय सो शा-  
रीर दुःख ओर मनमें कामादिककरकें ताप होय जाकुं मानस दुःख कहें हैं ओर व्याघ्र-  
सर्पादिकनकरके ताप होय बाकुं आधिभौतिक कहें हैं ओर ग्रहादिकनकर हुई जो  
पीडा ताकुं आधिदैविक कहें हैं इन सब तापनकर तपित हो रहे जे पुरुष तिनकुं हठ-  
योग आश्रयभूत मठ हे गुफाकुं कहे हे मंत्रयोग कर्मयोगादिकनकर युक्त जे पुरुष तिनकें  
आधारभूत कमठ कहा कूर्मचक्र ओर जेसैं विश्वको कूर्म आधार है ऐसैंही सर्व  
योगनको आधार हठयोग है ॥ १० ॥

याके अनंतर सर्व विद्यानकी अपेक्षाकरकें हठविद्याकुं अतिगोप्यपनो है ताय कहें हैं ॥  
हठविद्येति ॥ अणिमा गरिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ये आठ

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥

धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥

एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥१२॥

॥ टीका ॥

तु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपा-  
न्निर्देहेन्नो चिरायेति ॥ ११ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन ॥ सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा  
राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । यथा राजा तथा प्रजेति महदु-  
क्तेः । राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितं । धार्मिके धर्मवति । अनेन  
हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः  
सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयो-  
ग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजल-  
वर्जिते शिला प्रस्तरः अभिर्वन्दिः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्च-  
तुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः ।  
एकांते विजने । अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः । जनसंमर्दे

॥ भाषा ॥

विभूती हैं जो ये आठ सिद्धि इच्छाकरे अथवा कैवल्यसिद्धि इच्छाकरे ता योगीकरके हठ-  
विद्या अत्यंत गोप्यकरनो योग्य है क्योंकि गुप्त रही हठविद्या अखंड ऐश्वर्य प्रगट कर-  
वेमें समर्थ होय ओर कैवल्यसिद्धि प्रगट करवेमे समर्थ होय ओर जो प्रकाश हुई विद्या  
सती निर्वीर्य होय जाय है ॥ ११ ॥

हठाभ्यासके योग्य देश ताज कहें हैं सार्धेन ॥ सुराज्ये इति ॥ राजाको कर्म भाव राज्य  
सर्व शोभन जामें ऐसी सुराज्य होय धर्मवान् होय ओर राजा हठाभ्यासीकूं अनुकूल आहा-  
रादिक लाभ होय जामें ओर सुकाळ होय ओर चौर व्याघ्रादिक उपद्रवरहित होय  
ओर जहां आसन होय तहांसुं धनुष्यप्रमाण अर्थात् चार हाथ मात्र पर्यंत शिला, अग्नि,  
जल ये न होय ओर एकांतहोय मनुष्यनको समागम न होय जननके समागमते कलह  
होय हे याते ऐसी जगें मठिका अल्प छोटीसी बनायके ताके मध्यमें हठयोगी अर्थात् ह-  
ठाभ्यासको करवेवालो जो योगी ताकरके स्थित होय वेंकूं योग्य है मठमें बैठेसुं शीत, उष्ण,  
वर्षा इनको क्लेश नहीं होय हैं ॥ १२ ॥



अल्पद्वारमरं ध्रुगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं  
सम्यग्गोमयसांद्रलितममलं निःशेषजंतुद्विज्ञतम् ॥  
बात्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं  
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं भागवते । वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपीति । तादृशे मठिकामध्ये । अल्पो मठो मठिका । अल्पीयसि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादिवत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यं । मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये । इत्यर्थं केनचित्क्षिप्तत्वान्नव्याख्यातं । मूल-  
श्लोकानामेव व्याख्यानं । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यं ॥ १२ ॥

अथ मठलक्षणमाह ॥ अल्पद्वारमिति ॥ अल्पद्वारं यस्मिंस्तत्तादृशं । रंध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूपकादिविलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशं । अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतं । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननुच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं न-  
शब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादति-  
नीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्च-  
नीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तं ।  
अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुद्विज्ञतं त्यक्तं  
रहितं बाष्पे मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो  
जलाशयविशेषः तै रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो

॥ भाषा ॥

याके अनंतर मठको लक्षण कहें हैं ॥ अल्पद्वारेति ॥ छोटे द्वार जामें होय ओर जाली, झरोखा, मोखा, नीची ऊंची पृथ्वी मूसादिकनको विलो जामें न होय ओर अति नीचो अति उंचो अति चोडोवी स्थान न होय ( कयो ) चढवेमे उतरवेमे श्रम होय



एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥

गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

॥ टीका ॥

भित्तियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितं । नन्दिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तं । मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितं धूपामोदादिमुग्धभिः कुसुमोत्करमण्डितं मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितं । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितं । कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगतांश्रुतां तान्मुनीन्याति मनः शमं । सिद्धान्ददृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलं । श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारं सारवर्जिते । अनवसादो भवति योगी सिद्धयभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्तान्मत्तांश्चलद्गणान् ॥ १३ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह ॥ एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिंस्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा यार्थितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् । एवमशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितं । तदुक्तं योगबीजे । मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः । राजयोगे । वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिन्तामणित्येकगुरुं विहाय । स्कंदपुराणे । आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयं । यथोक्तं लभते

॥ भाषा ॥

चोडेमे दूरदृष्टी जाय यासुं सुंदर गोंवरसुं सघन लिप्यो होय ओर निर्मल होय सर्व जंतू मच्छर खटमलादिक कछूवी न होय ओर मठके वहार मंडपशाला, वेदी कीसीनाई, एक कूप जलाशय वृक्षावली पुष्पावली इनकरकें रमणीय स्थल होय च्यारोमेर भीतियुक्त होय हठाभ्यासमे शील स्वभाव जिनके ऐसे जो सिद्ध तिनैं छोटे द्वारें जामें होय ऐसे योगमठके लक्षण स्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

मठलक्षण कहकरकें मठमें कहाकरवो योग्य ताप कहैं हैं ॥ एवंविधेति ॥ या प्रकारके मठमें स्थित होयकरकें सर्व चिन्ता कर वर्जित होय ओर गुरुकरकें उपदेश दियो गयो जो हठाभ्यासप्रकाररूप मार्ग ताकरकें सदा सर्वदा योगाभ्यास करे ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥

जनसंगश्च लौल्यं च पद्धिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥

जनसंगपरित्यागात्पद्धिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिं । मुरेश्वराचार्यः । गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतं । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीं । श्रुतिश्च । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा-  
देवे तथा गुरौ ॥ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मन इति । आचार्यवान्पुरु-  
षो वेदेति च ॥ १४ ॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह ॥ अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारो-  
ऽत्याहारः क्षुधापेक्षयाधिकभोजनं । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः प्रकृष्टो-  
जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य  
ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः । कामादिजनकत्वात् । लौल्यस्य भावः  
लौल्यं चांचल्यं । पद्धिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधात् । योगो विनश्यति विशे-  
षेण नश्यति ॥ १५ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह ॥ उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्या-  
म्येवेत्युच्यते उत्साहः । साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसं । यावज्जी-  
वनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यं । विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः ब्रह्मैवसत्यामिति वास्त-

॥ भाषा ॥

अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकनकुं कहे हैं ॥ अत्याहारेति ॥ अत्याहार कहा फिर भूक  
नलगेया लिये अधिक भोजन करले सो अत्याहार ओर श्रम जामें बोहोत होय सो प्र-  
यास बोहोत बोलवो सो प्रजल्प ओर शीतल जलकर प्रातःस्नान रात्रिमें भोजन फलाहार  
इनकुं आदिलेकें जो नियम ग्रहण करनो सो ओर जननके संग ओर चांचल्यता इन  
छैयोगकरके योग विनाश होय हे ॥ १५ ॥

अब योगसिद्धीके करवेवारेनकुं कहै हैं ॥ उत्साहादिति ॥ उत्साह १ साहस २ धैर्य  
३ तत्त्वज्ञान ४ निश्चय ५ जनसंगपरित्याग ६ इनकाअर्थ विषययुक्त चित्तकुं रोक-  
नोई या उद्यममें सो उत्साह ओर ये साधनयोग्य है ओर ये नही साधनके योग्य है  
ऐसे विचार कर सहसा प्रवृत्ति होना सो साहस ओर धैर्यता और विषय मृगतृष्णाजल

“अथ यमनियमाः ॥ अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं  
 क्षमा धृतिः ॥ दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥  
 तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥  
 सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥  
 नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः” ॥  
 हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥  
 कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो  
 निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्याग-  
 गात् । षड्विरेभियोगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह ॥ हठस्येति ॥ हठस्य । आसनं  
 कुंभकं चित्रं मुद्रारूपं करणं तथा । अथ नादानुसंधानमिति वक्ष्यमाणानि चत्वार्य-  
 गानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांग-  
 त्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मना-  
 शकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । आसनेन रजो हंतीति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेप-  
 करोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे । व्याधिरुत्थानसंशयप्र-

॥ भाषा ॥

कीसी नाइ असत्य है ब्रह्मही सत्य है ये वास्तव ज्ञान सो तत्त्वज्ञान ओर शास्त्रगुरुवाक्य  
 इनमें विश्वास श्रद्धा सो निश्चय और योगाभ्यासमें विघ्नकर्ता जननके संगको परित्याग  
 इन छयोगनकरके हठाभ्यासीके योग प्रकर्षकरके शीघ्रही सिद्धि होय ॥ १६ ॥

अब आसननको फल कहै हे ॥ हठस्येति ॥ हठके चार अंग हैं आसन १ कुंभक  
 २ मुद्राकरण ३ ओर नादको अनुसंधान ४ ये अगाडी कहेंगे इनके मध्यमे आसन प्रथ-  
 मांग हे यातें पूर्व आसन कहे हैं ये आसन जो हे सो देहको मनको चंचलरूप जो रजोगुण  
 धर्म ताय दूरकरके स्थिरता करे हे ओर रोगकूंवी दूर करे हे ओर अंगनमें गौरवरूप तमो-  
 गुण धर्म हैं ताप दूरकरे हे ओर अंगनकूं लघुता करे हे ओर क्षुधा प्यासकी वृद्धीकूंवी  
 दूर करे हे ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥

अंगीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥

ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

मादालसाविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽत-  
राया इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तं । चका-  
राक्षुद्रदृष्ट्यादिकमपि बोध्यं ॥ १७ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यन्त इत्याह ॥ वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ  
आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येन्द्र  
आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रा-  
दिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया  
कथ्यन्ते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं  
मत्स्येन्द्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणं ॥ १८ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह ॥ जानूर्वोरिति ॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र  
जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः । जंघावोरिति पाठस्तु साधीयान् ।  
तयोरन्तरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र  
समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदन्ति योगिन इति  
शेषः । श्रीधरेणोक्तं । ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं

॥ भाषा ॥

वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आदिमें जिनके ऐसे याज्ञवल्क्यादिक मननमें हे शील  
जिनके मंत्रादिकनमें परायण मुनी तिनकरके ओर मत्स्येन्द्र जालंधरादिक हठाभ्यासी  
योगी तिनकरके ओर मुद्रादिकनमें परायण तिनकर अंगीकार किये चौराशी आसन  
तिनके मध्यमेसुं कोईएक श्रेष्ठ आसन तिने में कहहुं ओर वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादिकनकूं  
मननमें मुख्यपनी हे ओर मत्स्येन्द्रादिक हठाभ्यासमें मुख्य हैं यातें दोनोनके नाम  
न्यारे न्यारे आसन ग्रहण किये ॥ १८ ॥

सबमें सुगम हे यातें प्रथम स्वस्तिकासन कहें हैं ॥ जानूर्वोरिति ॥ जानु उरू इनके मध्यमें  
दोनो पामके तलुआनकूं करके फिर सरल देहकर बैठजाय ताय स्वस्तिक आसन कहें हैं ॥ १९

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥

दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥

इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमिऽतीरितम् ॥ २१ ॥

गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युक्रमेण समाहितः ॥

कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः ॥ १९ ॥

गोमुखासनमाह ॥ सव्य इति ॥ सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधो-  
भागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञक-  
मासनं भवेत् ॥ २० ॥

वीरासनमाह ॥ एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादं । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामो-  
रुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासन-  
मितीरितं कथितं ॥ २१ ॥

कूर्मासनमाह ॥ गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्ध्य नियम्य व्युक्रमेण यत्र  
सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदु-  
रित्यन्वयः ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

अब गोमुख आसन कहें हैं ॥ सव्येति ॥ बाईओर कटिके नीचें दक्षिण गुल्फ अर्थात्  
टकना ताय धरकें ओर जेमनी कटिके नीचे बांये पामको टकना धरके बैठजाय गोमुख  
कीसी आकृति जाकी सो गोमुखसंज्ञक आसन होय है ॥ २० ॥

वीरासन कहें हैं ॥ एकमिति ॥ जैमनो याम ताकूं बांये उरूमें स्थितकरकें फिर  
बांयों याम दक्षिण उरू धरतीमें धरकें स्थित होय जाय याये वीरासन कहें हैं ॥ २१ ॥

अब कूर्मासन कहें हैं ॥ गुदमिति ॥ दोनो पामनकी एढीनतें गुदाकूं रोककर साव-  
धान स्थित होय जाय ये कूर्मासन हे याके भेद अगाडी कहेंगे ॥ २२ ॥

मू० पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरं करौ ॥

निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनबंधस्थो दोभ्यां संबध्य कंधराम् ॥

भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥

धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ टीका ॥

कुक्कुटासनमाह ॥ पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्था-  
पनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशः । तच्च ऊरुश्च  
जानूरू तयोरंतरं मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते ।  
व्योमस्थं स्वस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनं ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मासनमाह ॥ कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्त-  
स्तस्मिन् स्थितः दोभ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भ-  
वेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

धनुरासनमाह ॥ पादांगुष्ठौ त्विति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रव-  
णावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं  
पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः ।  
एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुक्कुटासन कहें हैं ॥ पद्मासनं त्विति ॥ दोनो पामके उरूनके ऊपर ऊंचे चरण-  
स्थापन करके दोनो हाथ जानु उरूनके बीचमें करके पृथ्वीमें स्थापन कर हाथनके  
वल भूमिमें उठ अधरस्थित होय जाय ये कुक्कुटासन हैं ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मासन कहैं हैं ॥ कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनको जो बंध पूर्व कह्यो तैसेही  
स्थित होय वैसेही भुजानकर नाड पकडकर कूर्मकीसी नाही उत्तान जामें होय सो ये  
उत्तानकूर्मक नाम आसन कहें हैं ॥ २४ ॥

अब धनुरासन कहें हैं ॥ पादांगुष्ठौ त्विति ॥ दोनो हस्तकर दोनो पामके अंगुठा ग्रहण  
करके कर्णपर्यंत धनुषके आकर्षण कीसी नाई करे ओर ग्रहण कीनो है अंगुष्ठ जामें

मू० वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्वहिर्वेष्टितवामपादम् ॥

प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥२६॥

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥

अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥२७॥

॥ टीका ॥

मत्स्येन्द्रासनमाह ॥ वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदाया-  
त्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्वहिः-  
प्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्वहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य ।  
परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन  
स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येन्द्रनाथेनोदितं कथितं स्या-  
त् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव वदन्ति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिण-  
पाणिना प्रगृह्य वामजानोर्वहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्वहिर्वेष्टितवामपाणिना  
प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येन्द्रासनस्य फलमाह ॥ मत्स्येन्द्रेति ॥ प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः  
तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येन्द्रपीठं मत्स्येन्द्रासनं । अभ्यासतः प्रत्य-

॥ भाषा ॥

ऐसो एक हस्त फैलाकर कें ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठजामें ऐसो दूसरो हस्त ताय कर्ण  
पर्यंत आकुंचित करे ये धनुरासन कहें हे ॥ २५ ॥

मत्स्येन्द्रासन कहें हैं ॥ वामोरुमूलेति ॥ बायें उरूके मूलमें धन्यो जो जैमनो पाम  
ताय पीठमाहूतें गयो जो हस्त ताकर एंडीको ऊपरलो भाग ताय ग्रहणकरके फिर  
जैमने पामके जानूके बहिःप्रदेशमे वेष्टित जो वाम पादको जानू ताके बहार वेष्टित  
जैमनो हस्त कर अंगूठा पकड कर वर्त्त रह्यो है अंग जाको ऐसो योगी या आसनमें  
स्थिति करे ये आसन मत्स्येन्द्रनाथने कह्यो हे यातें पाहि नामकर आसन कहें हैं ऐमेंही  
जैमने पामके उरूके मूलमें धन्यो जो वामपाद ताय पृष्ठमाहूतें दक्षिण हस्तकर ग्रहणकर  
वामजानूके बहार वेष्टित दक्षिणपाम को जानूके बहार वेष्टित वामहस्तकर ग्रहणकरके  
स्थित होय ऐसै अभ्यास करें ये मत्स्येन्द्रासन हे ॥ २६ ॥

अब मत्स्येन्द्रासन को फल कहें हैं ॥ मत्स्येन्द्रेति ॥ प्रचंड दुःसह ऐमे जो रोगनको मंड-  
लरूप समूह ताके छेदन करवेकूं अस्त्रकीसी नाई मत्स्येन्द्रासन हे और जो निन्य याको  
आवर्तनरूप अभ्यास करो करें जिन पुरुषनकूं उदरमें जो जाठराग्नि ताकी प्रकृष्ट वृद्धि

मू० प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोभ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥

जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ २८ ॥

इति पश्चिमतानमासनाय्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥

उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

हमावर्तनरूपादभ्यामात् पुंसां जठरस्य जठराग्रेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडालिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

पश्चिमतानासनमाह ॥ प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोभ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदौः पदयोश्चाग्रेऽग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरिन्यस्तौ ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

अथ तत्फलं ॥ इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वय्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुपुत्रामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडावलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

॥ भाषा ॥

देवे हे और तेमेंही कुंडलिनी जो आधारशक्ति ताकूं प्रबोध अर्थात् निद्राको अभाव करे हे और तेमेंही फिर चंद्र जो तालुवेके उपरिभागमें स्थित नित्य क्षरो करे हे ताकूं क्षरको अभाव स्थिर करे हे ॥ २७ ॥

अब पश्चिमतान आसन कहें है ॥ प्रसार्येति ॥ दोनो हस्त पृथ्वीमें दंडकीसी नाई लंबे-करै दोनो पाम लंबेकरे भुजानकर दोनो पामनके अग्रभागके दोनो अंगूठा बलतें खेचें रहै फिर जानूनके उपर ललाटवरकें स्थित होय जाय ये पश्चिमतान नाम आसन हे ॥ २८ ॥

अथ फलं ॥ इतीति ॥ पहलें कहे जो आसन तिनमें मुख्य हे यह पश्चिमतान आसन सो सुपुत्रा मार्गकरकें वह रह्यो जो प्राण ताय अतिमुपुत्रा कर वहन लगै ऐसो प्राणकूं करदे और उदरमें जो अग्नि ताकी वृद्धि करै हैं और उदरके मध्यदेशमें कृशता करे हैं और आरोग्य करै हे और प्रकारतें नाडीबलादिककूं समान करै हे ॥ २९ ॥



मू० धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥

उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषाना-  
सनं श्रीमयूरम् ॥ बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जन-  
यति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

॥ टीका ॥

अथ मयूरासनमाह ॥ धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिं  
अवष्टभ्यावलम्ब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः ।  
तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ  
येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दंडवदंडेन तुल्यमुत्थित  
ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति । तन्मयूरं मयूरस्येदं तत्संबधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति  
योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

मयूरासनगुणानाह ॥ हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदी  
येषां घ्राहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति  
हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानाल-  
स्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति । बद्धतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं  
समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति ।  
कालकूटं विषं कालकूटवदपकारकान्नं परस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदि-  
त्यर्थः ॥ ३१ ॥

॥ भाषा ॥

अव मयूरासन कहें हैं ॥ धरामिति ॥ दोनो भुजा पृथ्वीमें धरकरकैं दोनो भुजानकी मध्यसंधि  
खोनीके यहांतक धारण कियो हे नाभिको पार्श्वभाग जाने ओर ऊंचो हे आसन जाको पृथ्वीतें  
ऊंचो उठ करकैं ऊर्ध्व स्थित जामे होय ताकूं मयूरासन कहें हैं मयूरके संबंधी कहे हे ॥ ३० ॥  
अव मयूरासनके गुण कहे हैं ॥ हरतीति ॥ जलोदर छीहकूं आदिले सकल रोगनकूं शीघ्र हरे  
ओर वात पित्त कफ इने ओर आलस्यकूं देवेवारे तिनें तिरस्कार करे हे ओर वहोत  
कुत्सित अन्न भोजन कियो होय ताय भस्म करे ओर जाठराग्निकूं प्रगट करे विषकी  
समान अपकार करवेवारे अन्नकूं पचायदे ॥ ३१ ॥

मू० उत्तानं शववद्रूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥

शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥ ३२ ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥

तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥

श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

॥ टीका ॥

शवासनमाहोर्ध्वेन ॥ उत्तानमिति ॥ शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवा-  
ख्यमासनं । शवासनप्रयोजनमाह । उत्तरार्धेन । शवासनं श्रान्तिहरं श्रान्ति  
हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रान्तिहरं चित्तस्य विश्रान्तिविश्रामस्तस्याः कारकं ॥ ३२ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह ॥ चतुरशीतीति ॥ शिवेनेश्वरेण चतुर-  
धिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षाणि च । तदुक्तं  
गोरक्षनाथेन । आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदा-  
न्विजानाति महेश्वरः । चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतं । ततः शिवेन  
पीठानां षोडशानां शतं कृतमिति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये  
प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं  
चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति ॥ सिद्धमिति ॥ सिद्धं सिद्धासनं । पद्मं

॥ भाषा ॥

शवासनमाह उत्तानमिति ॥ शव कीसीनाई पीठ पृथ्वीमै लगाय शयन करजाय निद्रा कीसी  
नाई स्थित होय सो शवासन आसन है याके करवेको प्रयोजन कहाये आसन हठाभ्यासके  
श्रमकूं दूर करे हे ओर चित्तकूँविश्रामको करवेवारो हे ॥ ३२ ॥

कहेंगे च्यार आसन तिनकूं श्रेष्ठपनो कहें हैं ॥ चतुरशीतीति ॥ चोराशी लक्ष आसन हैं  
जितने जीवजाती हैं तितनेही आसन हैं उनके भेद शिवजी जाने हे उनमेंतैं चोराशी वि-  
ख्यात हे चोराशीनमें तैं ग्रहण करकै सारभूत श्रेष्ठ च्यार आसन मे कहूँ इन्कूं चतुष्क  
नाम करकै कहे हैं ॥ ३३ ॥

॥ सिद्धमिति ॥ सिद्धासन पद्मासन सिंहासन जद्रासन ४ ये च्यार आसन श्रेष्ठ हैं

सू० योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मैट्रे पादम-  
थैकमेव तद्दये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥ स्थाणुः संयमितेन्द्रियो-  
ऽचलदृशा पश्येद्भुवोरंतरं ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धा-  
सनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

पद्मासनं। सिंहं सिंहासनं। भद्रं भद्रासनं। इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यं तत्रापि  
चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत्। एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेऽप्युत्कृष्ट-  
मिति सूचितं ॥ ३४ ॥

आसनचतुष्टयेऽप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह ॥ योनिस्थानकमिति ॥ योनि-  
स्थानमेव योनिस्थानकं स्वार्थे कप्रत्ययः। गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं  
तत्। अंग्निर्वागश्चरणस्तस्य मूलेन पार्श्वभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा। स्थानानंतरं  
एकं पादं दक्षिणं पादं मैट्रेन्द्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् हृदये  
हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमं-  
तरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यं। संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानिन्द्रिया-  
णि येन स तथा। अचला या दृक् दृष्टिस्तथा भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत्। हि प्रसिद्धं  
मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनां।  
आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

विख्यात हैं ये सुखके करवारे इन चारो नैमें वी सुखकारी सिद्धासन है ये चारो नैमें  
श्रेष्ठ है याए सदां करोकरे ॥ ३४ ॥

चारो आसनमें उत्कृष्ट है यातें प्रथम सिद्धासन कहें हैं ॥ योनिस्थानकमिति ॥  
गुदा ओर उपस्थ इनको मध्य देश सो योनीस्थान है बांये पामकी एढी योनीस्थानमें  
लगाय स्थित करे एसेही जेमनो याम इंद्रियके ऊपर भागमें एढी लगाय स्थित करे ओर  
हृदयके चार अंगुल उपर चिबुक जो ठोढी स्थित करे विषयनतें इंद्रियनकूं एक अचल  
दृष्टी कर भ्रुकुटीको मध्य देखे निश्चय मोक्षको कपाट? ताकूं दूर करे हे ये आसन सि-  
द्धासन नाम कह्यो है ॥ ३५ ॥

मू० मतांतरे तु ॥ मेंद्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥

गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥

मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥

मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

मत्स्येन्द्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह ॥ मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति ॥ मेंद्रादिति ॥ मेंद्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदानामभेदानाह ॥ एतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानन्ति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदन्ति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञा । यत्र वामपादपार्श्वं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्श्वं मेंद्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनं । यत्र वामपादपार्श्वं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्श्वं मेंद्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनं । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्श्वद्वयमुपर्यूर्ध्वभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनं । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्श्वद्वयं मेंद्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति ॥ ३७ ॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसन्ति ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिता-

॥ भाषा ॥

मत्स्येन्द्रसंमतं सिद्धासनं कहकरके मतांतरके संमत कहें हैं ॥ मेंद्रादिति ॥ उपस्थते उपरि भागमें वामो गुल्फ धरकरके वामपामके उपरि दक्षिण पाम धरके स्थित होय ये सिद्धासन मतांतरके अभिमत हे ॥ ३६ ॥

एतदिति ॥ पूर्व कह्यो जो सिद्धासन ताय सिद्धासन कोई कहें हैं और कोई वज्रासनसंज्ञक जाने हैं कोई मुक्तासन नाम कहें हैं और कोई गुप्तासन कहे हैं ॥ ३७ ॥

अत्र सात श्लोकनकर सिद्धासनकी प्रशंसा करें हैं ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमनके

मू० चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥  
 द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥  
 आत्मध्यायी मिताहारी यावद्वादशवत्सरम् ॥  
 सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥  
 किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥  
 प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ ४१ ॥

॥ टीका ॥

हारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः । मुस्निग्धमधुराहार इत्यादिना । नियमेषु अहिंसा-  
 मिव । सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति सं-  
 बन्धः ॥ ३८ ॥

॥ चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्ध-  
 मेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशे-  
 षणं द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकं ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मिताहारोऽस्यास्तीति मिताहारी  
 यावन्तो द्वादश वत्सराः यावद्वादशवत्सरं । यावदवधारण इत्यव्ययीभावः समासः ।  
 द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी  
 निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्या-  
 समात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किं न किमपी-

॥ भाषा ॥

वीचमे नियमित आहार कीसीनाई ओर नियमनमें अहिंसा किसीनाई संपूर्ण आसननमें  
 सिद्धासन मुख्य कहें हैं योगी ॥ ३८ ॥

चतुरशीतीति ॥ चौराशी आसननमेंसुं सिद्धये सिद्धासन हे याये सदां अभ्यास  
 करे क्यों के वहत्तर हजार नाडीनके मैलकूं शोधन करे हे ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्माये ध्यावे सों आत्मध्यायी ओर प्रमाणको भोजन करे सों  
 मिताहारी ऐसो होय द्वादश वर्षपर्यंत सर्वदा सिद्धासनको अभ्यास करै तो योगाभ्या-  
 सी योगसिद्धि प्राप्त होय ओर योगांतराभ्यास विनाहि या सिद्धासनके अभ्यास मात्र कर-  
 केहि सिद्धि प्राप्त होय ॥ ४० ॥

जो सिद्धासन सिद्ध होय जाय तो फिर ओर आसन वोहोतनकरकें कहा कछु नहीं

मू० उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥

तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति

बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥

न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनं ॥ वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं

तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥

॥ टीका ॥

त्यर्थः सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाल्हादकत्वाच्चंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डियानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् । पार्श्विणमार्गेण संमीज्य यो-निमाकुंचयेद्दुदमित्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनामिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं नास्तीति शेषः । केवलेन केवल-कुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

यमासनं वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ पद्मासनमाह ॥ वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा

॥ भाषा ॥

सावधान होय प्राणवायु पूरकरेचकविना केवल कुंभक कर बद्धक होय तो— ॥ ४१ ॥  
तुर्य अवस्थायें आल्हादक देवे हे चंद्रलेखा कीतीनाई सो अनायासतें ही आपही प्रगट होय जाय और कहे प्रकार कर एक सिद्धासन सिद्ध होयतो बंधत्रय अर्थात् मूलबंध उड्डियाबंध जालंधरबंध ये तीनो बंध अगाडी खेलेगे सो इन तीनो बंधनमें विना श्रम करे विना अपने आप तीनो बंध प्रगट होय जाय ॥ ४२ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धासनकी समान आसन नहीं कुंभकसमान प्राणायाम नहीं और खेचरीसमान मुद्रा नहीं और नादसमान लय नहीं कहा लयको हेतु नहीं है ॥ ४३ ॥

अब पद्मासन कहे हैं ॥ वाम जो ऊरु ताके ऊपरि दक्षिण चरण स्थापन करके वाम

मू० अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेतद्व्याधि-  
विनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ४४ ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥

ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ॥

॥ टीका ॥

वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवदक्षौ दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिविधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दाक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दाक्षिणोरुस्थितवामचरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे समीपे । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यं । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधेर्विनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धेरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मत्स्येन्द्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह ॥ उत्तानांवात ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकुण्ठाद्यत्रादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक्प्रतिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्श्वेणसंलग्नपृष्ठं सव्यं पार्श्वमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दाक्षिणं पाणि चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनंतरं दृशौ दृष्टी- ॥ ४५ ॥

नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः ॥ राजदंतानां

॥ भाषा ॥

चरण दक्षिण उरूके उपरि स्थापन करके दक्षिण हस्त पीठमाऊंकर वाम उरूके उपरि स्थित चरणको अंगुष्ठ ताय ग्रहण करे ओर ऐसेही वामहस्त पृष्ठभाग कर दक्षिण उरूके उपरि स्थित वाम चरणको अंगुष्ठ ग्रहण करके ओर हृदयसमीप दोही धरके नासिकाको अग्र ताय देखे ये योगीनकी व्याधीकू दूर करे ऐसे पद्मासन सिद्धनने कह्यो है ॥ ४४ ॥

अब मत्स्येन्द्रनाथके संमत पद्मासन कहें हैं ॥ उत्तानाविति ॥ उरूनमें लग रह्यो हे पृष्ठभाग जिनको ऐसे चरण उरूनमें स्थित करके दोनो हस्त सूधे एडीनके उपर पहले बाँयो हस्तताके उपरि जे मनोहस्त धरे ता पीछे दृष्टी- ॥ ४५ ॥

नासिकाके अग्रपे निश्चल राखे फिर डाढानको मूल दक्षिण वाम भागमे स्थित दोनो

मू० उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥

दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि  
सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥ वारं वारमपानमूर्ध्व-  
मनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्ति-  
प्रभावान्नरः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तंभ्य ऊर्ध्व-  
स्तंभयित्वा । गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिह्वाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः ।  
शनैर्मंदमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबंधः प्रोक्तः । मूलबंधोऽपि गुरुमुखादे-  
वावगंतव्यः । वस्तुतस्तु जिह्वाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तं । आसनज्ञैरिति शेषः ।  
कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभं । धीमता  
भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेषमाह ॥  
कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं  
सुस्थिरं पद्मासनं बध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि  
वक्षःसमीपे सन्निधाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाश्चेयं ।  
जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्तेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । ओतत्सदिति निर्देशो

॥ भाषा ॥

मूलस्थानमें जिह्वा कर ऊर्ध्व स्तंभनकरके गुरुमुखमें जिह्वाबंध जाननो योग्य हे फिर  
दोढ़ी वक्षस्थलमें चतुरंगुल अंतर रहे ऐसी धरकर शनैः शनैः मंदमंद पवन उथाप्य उठाव  
करके ये मूलबंध हे सोबी गुरुमुखमें जाननो योग्य हे ॥ ४६ ॥

ये पद्मासन कैसे हे सर्वव्याधीनकू नाश करे हे ये भाग्यहीनकर दुर्लभ हे पृथ्वीमे  
पुण्यवान धीमान् प्राप्त होय हैं ॥ ४७ ॥

ये महायोगीनके संमत ओरबी पद्मासनमें कृत्य विशेष कहें हैं ॥ कृत्वेति ॥ दोनो  
हस्तसंपुटकर गोदमें स्थितकरके फिर अतिस्थिर पद्मासन बांधकर चिबुक कहिये दोढ़ी



मू० पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनं ॥ गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः  
क्षिपेत् ॥ दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपा-  
नमनिलं अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन्  
पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणं न्यंचन्नीचैरधोऽचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थऽ-  
चतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्र-  
भावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति ।  
प्राणापानयोरैक्ये कुंडलिनीबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो  
ब्रह्मरंध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति । चित्तस्थैर्यं संयमादात्मसाक्षात्कारो  
भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासन इति ॥ पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारु-  
तं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानं नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः अत्र  
संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

सिंहासनमाह ॥ गुल्फौ चेति ॥ वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सी-  
वन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह ॥

॥ भाषा ॥

हृदयसमीप स्थितकर ये जालंधर बंध करके फिर अपने अपने इष्टदेवरूप अथवा ब्रह्मताय  
चित्तमें ध्यान चिंतन करत अपानवायु ताय ऊपरि चढ़ावत मूलबंध कर सुषुम्नामार्गकरको  
प्राण ऊपरि प्राप्त करे ओर पूरक करके अंतर धारण कन्यो जो प्राण ताय नीचे प्राप्त  
करत प्राण ओर अपान इनकूं ऐक्य करके पुरुष अतुलबोध ओर नहीं हैं उपमा जाकी  
ऐसो ज्ञान शक्ति अर्थात् कुंडलिनीके प्रभावते प्राप्त होय ओर प्राण अपानके ऐक्यते  
कुंडलिनीको बोध होय हे ॥ ४८ ॥

कुंडलिनीको बोध होतेही सुषुम्नामार्गकरके प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जाय हे प्राण ब्रह्मरंध्र जाय  
हैं तब चित्त स्थिर होय तब संयमते आत्मसाक्षात्कार होय है इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

पद्मासनेति ॥ पद्मासनमें स्थित योगीपूरककरके भीतर प्राप्त हुयो जो वायु ताय सुषु-  
म्नामार्गकरके मस्तकमें ले जायकर स्थिर करे सो मुक्त होय यामें संशय नहीं ॥ ५० ॥

मू० हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥

व्यात्तवक्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥

बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनं ॥ गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः

क्षिपेत् ॥ सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

दक्षिण इति सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् । सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्वा-  
तां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्या-  
त्तवक्रः संप्रसारितललज्जिव्हमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं  
यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषू-  
त्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भद्रासनमाह ॥ गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभ-  
यतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह । सव्यगुल्फमिति । सव्ये सी-  
वन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः  
पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

अब सिंहासन कहें हैं ॥ गुल्फौ चेति ॥ वृषणके नीचे सीवनिके दक्षिणभागमें  
वांये पाम की एड़ी स्थापन करे और सीवनिके वाम भागमें दक्षिणपाम की एड़ी स्थापन  
करे ॥ ५१ ॥

हस्ताविति ॥ फिर जानुके उपरि दोनो हस्त ओंधे धरकर अंगुली फेलाया करमुख फाडकर  
जिव्हा बहार निकास एकाग्र चित्त होय नासिकाको अग्र ताय देखे, ये सिंहासनके  
सोहे योगीनमें श्रेष्ठ तिनकर पूजित आसनमें उत्तम सिंहासन सो मूलबंधादिक  
तीनतिनकूं प्रगट करे हैं ॥ ५२ ॥

अब भद्रासन कहें हैं ॥ वृषणके नीचे सीवनिके वाम भागमें वाम पामकी एड़ी धरे  
और सीवनिके दक्षिणभागमें जेमने पामकी एड़ी धरे ॥ ५३ ॥

मू० पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥  
 भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥  
 गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥  
 एवमासनबंधेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥  
 अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥  
 आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

॥ टीका ॥

पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बध्वा । परस्पर-  
 संलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् ।  
 कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमि-  
 त्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदन्ति । आसनान्युक्तानि ।  
 तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो  
 यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिन्द्रो योगीन्द्रः ॥ ५५ ॥

नाडिकानां नाडीनां शुद्धिं । प्राणं चेदिडया पिवेन्नियमितमिति वक्ष्यमाणरूपा  
 मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशी । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां  
 चाभ्यसेत् अथ हठाभ्यसनक्रममाह ॥ आसनमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं  
 नानाविधं कुंभकं सूर्यभेदनमुज्जापीत्यादिवक्ष्यमाणं । मुद्रा इत्याख्या यस्य तन्मुद्राख्या  
 महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं । तथाचार्थे ॥ ५६ ॥

॥ भाषा ॥

फिर पार्श्वसमीप आये जे पाम तिने दोनो भुजानकरके बांध ले ये भद्रासन केसो हे  
 संपूर्ण व्याधीनकूं विशेषकरके नाश करै हे ये भद्रासनको बंध एकसो हे यामें वामें फर-  
 क नही हैं निश्चय ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धयोगी या भद्रासनकूं गोरक्षासन कहें हैं गोरक्षनाथने अधिककरके  
 भद्रासनको अभ्यासकियो हो यातें उनके नामतें प्रसिद्ध हे कहे जे आसनबंधनप्रकार  
 तिनमें श्रमरहित ऐसे जो योगीन्द्र-॥ ५५ ॥

सो नाडीनकी शुद्धी जातें होय मुद्राहे आदि जाकी सूर्यचंद्रभेद जाके एसी प्राणायाम-  
 रूप जो क्रिया ताय अभ्यासकरे हे ओर चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर मुद्राकरणो  
 ये तीनो हठसिद्धीमें उपकारकें करवेवाली हैं ॥ ५६ ॥

मू० अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥

अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थीशविवर्जितः ॥

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

अथैतन्नयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचितं हठे हठयोगे-  
ऽभ्यासोऽभ्यासनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः। हठसिद्धेरर्वाधमाह ॥ ब्रह्मचारीति ॥  
ब्रह्मचर्यवान् मिताहारी वक्ष्यमाणः सो ऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो  
विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यासनपरः। अब्दादूर्ध्वं सिद्धः  
सिद्धहठो भवेत्। अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या। एत-  
न्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह ॥  
सुस्निग्धेति ॥ सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थीशवि-  
वर्जितश्चतुर्थभागरहितः। तदुक्तमभियुक्ते। द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।  
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदिति। शिवो जीवः ईश्वरो वा। भोक्ता देवो  
महेश्वर इति वचनात्। तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्यु-  
च्यते ॥ ५८ ॥

॥ भाषा ॥

आसन। कुंभक। मुद्राकरण। इन तीनों के करे पीछे नादको अनुसंधान करनो हठयो-  
ग के अभ्यासको अनुक्रम अर्थात् पूर्वापरक्रम येही है अब हठसिद्धीकी अवधी कहें हैं  
ब्रह्मचर्यमें रहे और प्रमाणको आहार करे त्यागी दानमें शील होय और विषयनको परित्याग-  
करे और योगमें परायण होय योगांगके अभ्यासमें परायण रहे तो वर्षिते ऊपरि हठ-  
सिद्ध होय ये कहो जो अर्थ तामें विचार संदेहयुक्त नहीं करनो योग्य है ये निश्चय  
है ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धेति ॥ योगीनको मिताहार केसो होय अति स्निग्ध और मधुर आहार होय  
चतुर्थ आहार रहित होय अर्थात् दोय भाग अन्नकर उदर भरे एक भाग जलकरके  
भरे एक भाग खाली रहे वायुके चलवेके लिये शिव कहिये जीव वा ईश्वर ताकी प्रीतीके  
अर्थ जो यारीत भोजनकरे सो मिताहारी कहे हैं ॥ ५८ ॥

मू० कटुम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमद्य-  
मत्स्यान् ॥ आज्ञादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिङ्गुल-  
शुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ॥

अतिलवणमम्लयुक्तं कदशानशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्यां ॥ कट्वीति ॥ कटु कारवेळ इत्यादि अम्लं  
चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धं उष्णं गुडादि हरीतशाकं पत्रशाकं  
सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं  
सुरा मत्स्यो श्लषः । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादि-  
र्यस्य सौकरादेस्तदाज्ञादि तच्च तन्मांसं चाज्ञादिमांसं दधि दुग्धपरिणामविशेषः  
तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिद्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरं । कर्कधूर्व-  
दरी कोलिरित्यमरः । पिण्याकं तिलपिण्डं हिङ्गु रामठं लशुनं । एषामितरेतरद्वंद्वः ।  
एतान्याद्यानि यस्य ततथा । आद्यशब्देन पलाङ्गुशृङ्गजनमादकद्रव्यमापानादिकं  
ग्राह्यं । अपथ्यमहितं । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भोजनमिति ॥ पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपोदनरोटिकादि रुक्षं घृता-  
दिहीनं अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाकू-  
वा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः

॥ भाषा ॥

अब योगीनको अपथ्य कहे हैं ॥ द्वाभ्यां कट्वीति ॥ कटु निंबादि कडुवो पदार्थ अम्ल  
आमलीकू आदिले । तीक्ष्ण मरीचादि लवण उष्ण अतिउष्ण ओर गुडादि हरितशाक  
पत्रशाक कांजि तैल तिल सर्षप सिरस्यो मद्य सुरा मत्स्य इन्ने अपथ्य कहें हैं वकरीकू  
आदिले इनको मांस दही दूध छाछ कुलथा वेर तिलपिण्ड लशुन ये हे आदिमे जिनके  
धीपा गाजर उडदादि ये सब योगीनकू अपथ्य हैं अहित हैं ॥ ५९ ॥

भोजनमिति ॥ पहलें पाककर लियो फिर ठंडोजान अग्निके संयोगकर उष्णकियो जो  
पदार्थ सो अहित जाननो ओर रूखो घृतरहित अन्न अधिकलवण जामें होय सो ओर  
अत्यंत भोजन अत्यंत निद्रा अत्यंत प्राणण बोलवो बास्यो अन्न दूषित अन्न गंध जामें  
आयगयो होय एसो अन्न ये सब अहितकारी जाननो योगीकू ॥ ६० ॥

मू० वन्हिस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ तथाहि गोर-  
क्षवचनं ॥ वर्जयेदुर्जनप्रातं वन्हिस्त्रीपथिसेवनम् ॥ प्रा-  
तःस्नानोपवासादि कायकेशविधिं तथा ॥ ६१ ॥

॥ टीका ॥

साधुः । तथा च दत्तात्रेयः । अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्पपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रुक्षकं । अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषण-  
मिति । स्कंदपुराणे ऽपि । त्यजेत्कटुम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेदिति । अम्लयु-  
क्तमम्लद्रव्येण युक्तं । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लं । अत्र तृती-  
यपदं पललं वा तिलपिंडमिति केचित्पठन्ति तस्यायमर्थः । पललं मांसं तिलपिंडं  
पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रं उत्कटं  
विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धं । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायां । कदशनादीनां  
समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनाहं । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि ।  
अहितमिति योजनीयं ॥ ६० ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युत्काभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्थेन ॥ वन्हीति ॥ वन्हि-  
श्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वन्हिसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां  
वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत् । सिद्धे ऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वन्हिसेवनं  
गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिप-  
देन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति ॥ तथाहीति ॥ तत्पठति ॥ वर्ज-  
येदिति ॥ दुर्जनप्रातं दुर्जनसमीपव्रामं । दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः । वन्हिस्त्री-  
पथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समा-  
हारद्वंद्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः । उपवासादिना पित्ताद्युत्प-  
त्तेः । कायकेशविधिं कायकेशकरं विधिं क्रियां बहुमुर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारो-  
द्ध्वनादिरूपां च । तथा समुच्ये । अत्र प्रातपदं वर्ज्योदाति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

॥ भाषा ॥

वन्हीति ॥ योगी अभ्यासकालमें प्रथमही अग्निसेवन स्त्रीसंग तीर्थयात्रादि मार्गमें गम-  
नादिक तिनकुं वर्जित करे जब अभ्यास सिद्ध होय जाय तब कदाचित् शीतकालमें अग्नि-  
पनो ओर ग्रहस्थ होय तो ऋतुकालमें स्वभार्यागमन तीर्थयात्रादिकमें मार्ग चलनो ये  
निषिद्ध नहीं ॥ यामें प्रमाण गोरक्षवचनको हे ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनके पास बैठनो वा  
दुर्जनते प्रीती ओर अग्निको संगतपनो ओर स्त्रीसंग ओर मार्गगमन प्रातःकालको स्नान

मू० गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीत-  
सितामधूनि ॥ शूंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गा-  
दिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥

मनोभिलपितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

॥ टीका ॥

अथ योगिपथ्यमाह ॥ गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च पाष्टि-  
काः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यन्ते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनी-  
वारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं माथ-  
तदधिसारः सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभा-  
षायां । मधु क्षौद्रं एषामितरेतरद्वंद्वः । शूंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां  
प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं शेषाद्विभाषेति  
कप्रत्ययः । पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकं । तदुक्तं वैद्यके । सर्वशाकमचा-  
क्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकं । जीवन्तीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा इति । मुद्गा  
द्विदलविशेषा आदि र्यस्य तन्मुद्गादि । आदिपदेन आढकी ग्राह्या । दिव्यं नि-  
र्दोषमुदकं जलं । यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विन्द्रो देवश्रेष्ठो यो योगीन्द्रस्तस्य  
पथ्यं हितं ॥ ६२ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह ॥ पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि

॥ भाषा ॥

ओर व्रतादिक फलाहारादिक ये दोनो प्रशम अभ्यासके करवालेकू प्रातःस्नानते शीतवि-  
कारकी उत्पत्ति होय हे उपवासादिकनते पित्तादिरोगकी उत्पत्ति होय हे ओर कायकेशकी  
करबेवारी क्रिया बोहोतसी सूर्यनारायणकू नमस्कारादिरूपा वा बहोत भारको उठावनो  
इत्यादिक सब वर्जित करे ॥ ६१ ॥

अब योगीकू पथ्यवस्तु कहें हैं ॥ गेंहुं चावल जब शाठी चावल पवित्रअन्न शमा नी-  
वार दूध दही घृत शर्करा माखन मिश्री सहत शूंठी परवर पनस जिमीकंद सूरण रतालु  
पत्रशाक चोलाई मूंग अहेड निर्दोष फलादिक ग्रहण करणो ओर उदकं जलं ये योगीन्द्र  
कू पथ्य हैं हित हैं ॥ ६२ ॥

अब योगीकू भोजनको नियम कहें हैं ॥ पुष्टमिति ॥ देहकी पुष्टी करें एसो ओदनादि  
शर्करादिसहित होय घृत दूध गौको होय न मिलेतो भैसको दुग्धादि ग्राह्यं धातुकू पोषण करें



सू० युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥

अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥

न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

॥ टीका ॥

सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यं । धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यं । मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह । योग्यमिति । विहितमेवेत्यर्थः । योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः । न तु सक्तुर्भजितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

योगाभ्यासनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह ॥ युवेति ॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिर्नाष्टा ॥ सर्वयोगेष्विति ॥ सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतन्द्रितोऽनलसः । योगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृपिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति दृढयन्नाह द्वाभ्यां ॥ क्रियामुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तथा युक्तस्य सिद्धिर्योगासिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगासिद्धिः

॥ भाषा ॥

लड्डु पूआदिक मनकूं रुचि करे सोही योगीकरकें भोजनकरनो योग्य हे योग्य होय अयोग्यवस्तू हे मनवांछित हे तो नहीं भोजन करे ओर सक्तुही खायकर रहजाय अथवा चनादिक खायकेंही निर्वाह करलें एसो योगी कदापि नहीं करे ॥ ६३ ॥

युवेति ॥ युवान होय वृद्ध होय अतिवृद्ध होय आसन कुंभकादिकनके अभ्यास करे तें सिद्धि समाधि प्राप्त होय हे ओर सर्व योगमें योगांगमें आलस्यरहित होय अभ्यासतेंही सिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्येति ॥ योगयोगके अंगनकी क्रिया ताकरकें युक्त ताकूं योगसिद्धी होय हे ओर जो क्रियारहित हैं ताकूं केंसं सिद्धी होय नहीं होय ओर योगशास्त्रके केवल पाठमात्रकरकें योगकी सिद्धि नहीं होय इत्यर्थः ॥ ६५ ॥



मू० न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥

क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥

सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥

॥ इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयो-  
गीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायामासनविधिकथनं-  
नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्यान्नेत्याह ॥ नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य  
सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य  
कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह ॥ क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह ॥ पीठानीति ॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः  
कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि कारणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ  
प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफला-  
वधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्री हठप्रदीपिकायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

नेति ॥ योगसिद्धीको कारण वस्त्रादिक धारणकर वेष वनाय लेनो ये नहीं हे अथवा  
योगकी कथा कहलेनों ये सिद्धीको कारण नहीं हे सिद्धीको कारण क्रियाकरनो येही हे  
ये सत्य हे यामें संदेह नहीं हे ॥ ६६ ॥

पीठानीति ॥ चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर उत्कृष्ट महामुद्रादिक ये हठ-  
सिद्धीमें प्रकर्षकरके कारण हैं हठाभ्यासमे आसन कुंभक मुद्रा ये संपूर्ण राजयोगफल प्रा-  
प्त होय तब तलक करनो योग्य हे ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां स्वकृतभाषाटीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

सू० अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥

गुरुपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥

मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्ता दशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरं कुक्कुटादि-विवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तत इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्य-भावात्प्राणायामप्रयोजनमाह ॥ चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भ-वेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जी-

॥ भाषा ॥

आसनको उपदेश कहे के अनंतर प्राणायाम कहवेकूं आरंभ करें हैं ॥ अथेति ॥ जा योगीके आसन दृढ होय गयो होय इंद्रिय जनें जीत लीनी होय पूर्व कहा ये ऐसो पथ्य हितकारी प्रमाणको आहारको करवेवालो होय सो योगी गुरूनकर उपदेश दियो जो मार्ग ताकरके प्राणायाम अभ्यास करे ॥ १ ॥

अब प्राणायामको प्रयोजन कहें हे ॥ चले वात इति ॥ जो वायु चलायमान होय तो चित्तवी चलायमान होय और जो वात निश्चल होय तो चित्तवी निश्चल होय जाय और जो वात और चित्त ये निश्चल होय तो योगी स्थिर दीर्घजीवी होय वा ईशभाव प्राप्त होय तातें वायु जो प्राण ताय रोके ॥ २ ॥

यावदिति ॥ शरीरमें जवताई वायु स्थित हे तवताई जीवन हे ता प्राणको देहकों वि-

सू० मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥

कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया ॥

॥ टीका ॥

वनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रां-  
तिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह ॥ मलाकुलास्त्विति ॥ नाडीषु मलै-  
राकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् ।  
अपि तु शुद्धमलास्त्रेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं  
कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न क-  
थंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह ॥ शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्काले  
मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नो-  
ति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो  
जायते ॥ ५ ॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह ॥ प्राणायाममिति ।  
यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसा-

॥ भाषा ॥

योग होय जब मरण कहें हैं तातें वायुको निरोध कुंभक करे ॥ ३ ॥

मलाकुलास्त्विति ॥ मलनकरकें नाडी व्याप्त होय तब पवन सुषुम्ना नाडीकरके नहीं  
चले फिर उन्मनीभाव अर्थात् तूर्य अवस्थामें केंसें प्राप्त होय फिर मोक्षकी सिद्धी केंसें  
होय कै मलशुद्धी विना नहीं होय ॥ ४ ॥

शुद्धिमेतीति ॥ जा कालमें मलनकरकें युक्त समस्त नाडीनको समूह सो मलरहित  
होय जाय तब योगाभ्यासी प्राणवायुके ग्रहण करवेमें समर्थ होय है ॥ ५ ॥

मलशुद्धी केंसें होय ये अपेक्षा हुई तब मलशोधक प्राणायाम कहें है ॥ प्राणायाम-  
मिति ॥ मलशुद्धीविना प्राणके ग्रहण करवेमें समर्थ नहीं होय तातें ईश्वरके ध्यानमें

मू० यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥

धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥

विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

हसादि प्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्त्विकया प्रकाशप्रसा-  
दशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्ना-  
नाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्यां ॥ बद्धपद्मासन इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन  
तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य  
यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् ।  
बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिवंधपूर्वकं प्राणनिरोधः  
कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषादुत्पन्नं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरक-  
योरेवेमे लक्षणे इति । भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमाविति गौणरेचकपूरक-  
योर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मंदमंदमुदरं  
जठरं पूरयेत् । विधिवद्धंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

उत्साह साहसादिक यत्न करवेसें विक्षेप करवेवाले आलस्यादिक राजस तामस ये दूर  
होय प्रकाश और प्रसन्नता करवेमें शील स्वभाव जाको एसी सात्त्विक बुद्धिकरके  
नित्य प्राणायाम करे जा प्रकारकरके सुषुम्नानाडीमें स्थित जो मूल हैं ते नाशक  
प्राप्त होय हैं ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासन इति ॥ कियो हे पद्मासन जाने एसी योगी प्राणवायुकुं चंद्रनाडी जो  
इडा ताकरके पूरण करे फिर यथाशक्ति धारणकरके फिर रेचक करे सूर्यनाडी पिंगला-  
करके वोहोत यत्ने वाहारके वायुकुं ऊपर ग्रहण करे ताकुं पूरक कहे हैं और जालं-  
धरादिक बंधपूर्वक प्राणकुं रोकनो ताकुं कुंभक कहे हैं फिर वो धारण कियो जो वायु  
ताकुं यत्नविशेषते अर्थात् होलें होलें छोड़े ताकुं रेचक कहे हैं ॥ ७ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्यनाडी पिंगलाकरके प्राणकुं खेच करके मंदमंद उदरमें पूरक करे

मू० येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥

रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्ययारेचयेत्पीत्वा पिंग-  
लया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥ सूर्याचंद्रमसोरनेन  
विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां  
मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह ॥ येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वात्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा  
तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतो ऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यन्तेन ।  
सार्वविभक्तिकस्तसिल । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः । वेगाद्रेचने  
बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्ते-  
नैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन् प्राणायामस्यावांतरफलमाह ॥  
प्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं  
भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षिणाड्या समीरणं वायुं पीत्वा  
पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बध्वा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चं-  
द्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः । देवताद्वेदेत्येतादृक् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण  
सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चंद्रेण  
रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा  
मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवन्ति ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

फिर विधिवत् बंधपूर्वक कुंभककरके फिर चंद्र जो इडा ताकरके रेचन करे ॥ ८ ॥

येनेति ॥ जा चंद्रकरके अथवा सूर्यकरके रेचन करे ताईकरके पूरण करे अति  
रोधकरके धारण करे जब तलक प्रस्वेद कंपा होय तब ताई फिर जाकरके पूरक  
करे ताते अन्य नाडीकर शनै शनै रेचक करे वेगते रेचक नकरे वेगते रेचन करवेमें  
बलकी हानि होय जाकरके पूरक करे ताकरके रेचक नहीं करवो योग्य हे ओर  
जाकरके रेचक करे ताकरके पूरक कर्तव्य हे ॥ ९ ॥

प्राणमिति ॥ इडा जो वामनाडी ताकरके प्राणकू पूरक करे फिर कुंभक कियो जो  
प्राण ताय फेर दूसरी पिंगलाकरके दक्षिण नाडीकरके वायू रेचन करे फिर दक्षिण

सू० प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥

शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥

॥ टीका ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह ॥ प्रातरिति ॥ प्रातरुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्वटिकात्रयपर्यन्ते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमिताकास्तादृशतादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रर्मध्ये मूर्हूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयं कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेन्निसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवन्ति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवन्ति ॥ ११ ॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह ॥ कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं

॥ भाषा ॥

जो पिंगला ताकरकें वायू पूरण करकें फिर कुंभक करे फिर वाम इडाकरकें रेचक करे सूर्य चंद्रमाकी ये पूर्व कही जो विधि ताकरकें नित्य जो अभ्यास चंद्रकरकें वायू पूरण कुंभक कर सूर्यकरकें रेचन कर देतो ओर सूर्यकरकें वायू पूरण कुंभक कर फिर चंद्रकरकें रेचन करनो यारीतसुं अभ्यास करवेवारे योगी तिनकी नाडीनके समूह तीन मासतें ऊपरि शुद्ध होय हैं ॥ १० ॥

अब प्राणायामके अभ्यासको काल ओर प्राणायामकी अवधि कहें हैं ॥ प्रातरिति ॥ अरुणोदयतें लेकर सूर्योदयतें तीन घड़ीपर्यंत प्रातःकाल होय हे सो प्रातःकालमें ओर मध्याह्नकालमें दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग होय तामें संध्या सूर्यास्तके पहलें कीं तीन घड़ी तीन घड़ी पीछेंकी सायंसंध्या होय हे सो संध्याकालमें ओर अर्द्धरात्रिमें मूर्हूर्तद्वय समयमें इन चारों समयमें एक एक कालमें अशी अशी प्राणायाम करनो योग्य है अर्द्धरात्रिमें करवेकूं असमर्थ होय तो संध्याताई कर्तव्य हे दिनदिनेमें चारों समयके ३२० प्राणायाम होय हैं ओर जो तीनपोतहीं करे तो २४० प्राणायाम होय ही ॥ ११ ॥

कनीयसीति ॥ कनिष्ठ प्राणायाममें पसीना आवे हे ओर मध्यम प्राणायाममें कंप

मू० उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मरंध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबन्धयेन्नितरां बन्धयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिङ्गपुराणे । प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतं । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः । मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते । प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमं । आनंदो जायते चात्र निद्रा धूमस्तथैव च । रोमांचो ध्वनिसंविज्ञिरंगमोटनकंपनं । श्रवणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्च्छां जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभन इति । धूमश्चित्तांदोलनं । गोरक्षोऽपि । अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः । उद्धातलक्षणं तु । प्राणेनोत्सर्गमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणं । मात्रामाह याज्ञवल्क्यः । अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिजानुपरिमार्जनं । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते । स्कंदपुराणे । एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते । एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ । निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालप्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । पट्टिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिङ्गपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं । जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्नद्रुतं न विलंबितं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते इति स्कंदपुराणात् । अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते इति च स्कंदपुराणात् । अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदेति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिङ्गपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटि-

॥ भाषा ॥

होय हे उत्तम प्राणायाममें ब्रह्मरंध्र प्राप्त होय हे तों योगी वायुकुं निरंतर बंध करै ओर कल्लूक कम वैयालीस विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ प्राणायाम काल ओर कल्लूक उन चोराशी विपल कुंभक रहे सो मध्यम प्राणायाम काल ओर बंधपूर्वक एक-सो पच्चीस विपल कुंभक रहे ताकुं उत्तम प्राणायाम काल कहें हैं जब प्राणायाम स्थिर

मू० जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥

दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

कात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणसाधमस्योत्तमत्वं तत्राप्यु-  
क्तमित्याविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां  
सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहारावसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दै-  
र्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिन्तामणौ । प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः  
प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यते इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे । प्राणायाम-  
द्विपटकेन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विपटकेण धारणा परिकीर्तिता । भवे-  
दीश्वरसंगतयै ध्यानं द्वादशधारणं । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते । यत्समाधौ  
परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकं । तस्मिन्हृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते इति ।  
तथा । धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्पट्टिनाडिकं । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः  
प्राणसंयमादिति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तं । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदून-  
द्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य  
कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको  
मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया  
चतुर्विंशतिमात्रकः । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अय-  
मेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया पटविंशन्मात्रककालः । छोटि-  
कात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंच-  
विंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं ग-  
च्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः ।  
यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा पट्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा  
ध्यानं । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयं ॥ १२ ॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह ॥ जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामा-

॥ भाषा ॥

होय तब प्राण ब्रह्मरंध्रकूं प्राप्त होय हैं और ब्रह्मरंध्रमें गयो जो प्राण पञ्चीस पलपर्यंत  
स्थित रहे तब प्रत्याहार कहें हैं और जब पञ्चीस पलताई स्थित रहे तब धारणा होय है  
और जब छ घडीताई स्थिर रहे तब ध्यान होय है और जब बारह दिनताई स्थित रहे  
तब समाधिहोय है ॥ १२ ॥

जलेनेति ॥ प्राणायामके अभ्यास तें हुयो जो पसीना ताकरकें शरीरको मर्दन तैला-



मू० अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥

ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ॥

तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥

अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

भ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरे-  
त्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दाढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रा-  
दुर्भवति ॥ १३ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह ॥ अभ्यासकाल इति ॥ क्षीरं  
दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनं । शाकपार्थिवादिवत्समासः । केवले  
कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह ॥ यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण  
सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न  
सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा  
सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह ॥ प्राणायामेनेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालं-  
धरादिवंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रो-

॥ भाषा ॥

भ्यंगकीसीनाई करे ता मर्दनकरके शरीरकू दृढता ओर लघुता नाम जडताको अभाव  
होय हे ॥ १३ ॥

अभ्यास काल इति ॥ योगी प्रथम अभ्यासकालमें दूध घृत इनकर युक्त भोजन  
करे ओर केवल कुम्भकसिद्ध अभ्यास दृढ होय जाय तब नियमकों आग्रह नहीं ॥ १४ ॥

यथेति जा प्रकारकरके सिंह वनहस्ती शार्दूल ये शनैः शनैः वशीभूत होय हैं इनके  
पकडवेमें सहसा न करे ओर या प्रकारकरके सेवन कस्यो जो वायूसे वशीभूत होय हे  
अन्यथा सहसा ग्रहण करे तो साधककू सिंहादिकनकीसीनाई नाश करे ॥ १५ ॥

आहारादिक युक्त जालंधरादिक वंधयुक्त प्राणायामकरके सर्व रोगनको क्षय होय हे

सू० हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥

भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥

युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिन्हानि बाह्यतः ॥

कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

गाणां क्षयो नाशो भवेत् । अत्युक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवन्तीत्यपेक्षायामाह ॥ हिक्केति ॥ हिक्काश्वास-कासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः । पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवन्ति ॥ १७ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवन्त्यतः ॥ युक्तंयुक्तमिति ॥ वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्यां ॥ यदा-त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बा-

॥ भाषा ॥

ओर जो युक्ति कही हैं उन युक्तीकर रहित जो योगाभ्याससहित प्राणायाम ताकरकें सर्व रोगनकी उत्पत्ति होय हे ॥ १६ ॥

हिचकी श्वास कास मस्तक कर्ण नेत्र इनमें वेदना ओर नाना प्रकारके रोग ज्वरादिक वायुके कोपकर होय हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तमिति ॥ वायुकूं रेचनकालमें शनैःशनै रेचन कर वेग करे नही ओर पूरक अल्पवी नही करे ओर अधिकवी नही करे योग्य योग्य करे ओर जालंधरबंधादि युक्त योग्य ही कुंभक करे या प्रकार करे हठसिद्धी प्राप्त होय हे ॥ १८ ॥

नाडी शुद्धीनकूं लक्षण कहे हे द्वाभ्यां ॥ यदा त्विति ॥ जब नाडी नकी शुद्धि होय

मू० यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥

नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २० ॥

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत् ॥

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥

कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥

॥ टीका ॥

ह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिन्हानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिन्हानि भवन्तीत्यर्थः । तान्येवाह ॥ कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता काश्यं कांतिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुम्भकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहिसाञ्जायते ॥ २० ॥

मेदाद्याधिक्ये उपायांतरमाह ॥ मेदश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राङ्मुत्तु प्राणायामाभ्यासकाले षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् । तत्र हेतुमाह । दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्मादोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ षट्कर्माण्युपदिशति ॥ धौतिरिति ॥ स्पष्टं ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

हे तव बहार चिन्ह होंय हैं देहकू कृशता ओर कांति निश्चैही होय हैं ॥ १९ ॥

वायुकू वोहोत वेर कुम्भकमें धारण करे तो जाठराग्नीको दीपन होय नादकी प्रगटता ओर आरोग्य ये नाडीनकी शुद्धीतें ये सर्व होय हे ॥ २० ॥

मेदश्लेष्माधिक इति ॥ मेद श्लेष्म दोनो अधिक जाके होंय वो पुरुष प्राणायामके अभ्यासतें पूर्वषट्कर्म अगाडी कहेंगे तिनेंकरे ओर जो वात पित्त कफ इनकोही समको भाव होय मेद श्लेष्म ये अधिक जाके नही होय सो न करे ॥ २१ ॥

अव षट्कर्म कहें हैं ॥ धौतिरिति ॥ धौति १ बस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ५ कपाल-

मू० विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ॥ चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥

गुरुपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥

॥ टीका ॥

इदं रहस्यमित्याह ॥ कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयं । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वभावः प्रसज्येतेति भावः । एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितं । मेदश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तं । षट्कर्मयोगमाप्नोति पचनाभ्यासतत्पर इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारसाच्च ॥ २३ ॥

धौतिकर्माह ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीपादेः खंडं ग्राह्यं । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयं । एवंदिनद्वया हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् ॥ २४ ॥

तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्दिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथि-

॥ भाषा ॥

भाति ६ ये षट्कर्मके नाम हैं ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिति ॥ ये षट् कर्म गुप्त करवेके योग्य हे शरीरके मैलकू दूर करे हे ओर चित्र विचित्र गुण करवेकू स्वभाव जाको सो उत्तम योगीनकरके सत्कार कियो जाय हे २३

अव धौतिकर्म कहें हैं ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चार अंगुल चोडो ओर पंद्रह अंगुल लंबो ओर कलूक उष्ण जलकरके आर्द्र होय सूक्ष्म होय नवीन यगडी कोटूक होय ऐसो वस्त्र ले फिर गुरुने दिपायो वस्त्रग्रास करवेको प्रकार ताकरके मंद मंद किंचित् किंचित् ग्रास करे द्वितीय दिन दो हाथ तृतीय दिन तीन हाथ ऐसैं नित्य एक हाथ या दो हाथ ग्रास करे ॥ २४ ॥

ता वस्त्रको प्रांत कहि ये एक विलस्तको छोड पिछाडीको ताय दांतनके बीचमें

मू० कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः ॥ २५ ॥

धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

तं सिद्धैः । धौतिककर्मणः फलमाह ॥ कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वंद्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च २५

धौतिककर्मणः प्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः निश्चितमेतदित्यर्थः । अथ वस्तिकर्माह ॥ नाभिदघ्नेति ॥ नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नं । परिमाणे दघ्नञ् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् । अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनं । आधारस्याकुंचनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अंतः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं वस्तिकर्मोच्यते । धौतिवस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यं । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वमूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्तजले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव वस्तिकर्माभ्यसन्ति । तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा वस्तिकर्म नैव विधेयं । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

॥ भाषा ॥

दाव होठ सुलगाय फिर नौलीकर्म करे नौलीके करवेसुं वस्त्र छाती पेज मोहु यो नीचे उदरमें उतर जाय फिर वस्त्रकूं उदरमें भ्रमाळे नौलीमुई भ्रम जाय पुनः शनै शनै वस्त्रकूं निकासे ये धौतिकर्म कहें हैं याके करे तें कास श्वास छीह कुष्ठादिक विपरोग हैं ते ओर कफ रोग— ॥ २५ ॥

ये सर्व रोग धौतिक कर्मके प्रभावकरके निश्चैही दूर होंय ॥ अब वस्तिकर्म कहें हैं ॥ नाभिदघ्नेति ॥ नाभिमात्र जलमें स्थित होय छोटी अंगुली जामें माय जाय इतनों छिद्र होय ओर छै अंगुल लंबो ऐसो एक वांसको नाल लेकरके च्यार अंगुल गुदामें प्रवेश करे ओर दो अंगुल वहार राखौ फिर उत्कटासन करके आधारकूं आकुंचनकर जल भीतर प्रवेश होय फिरवा जलकूं नौलीकर्म कर भ्रमाय त्याग करे ये वस्तिकर्म हे धौ-

मू० आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥

गुल्मछीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥

वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २७ ॥

धात्विद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥

अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥

॥ टीका ॥

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्यां ॥ गुल्मछीहोदरमिति ॥ गुल्मश्च छीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्वे आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयन्ते नश्यन्ति ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठेयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्म कर्तुं दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवो रसामृक्मांसवेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादयायूपस्थानि पंच कर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदेन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं वृत्तिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च । तथा । अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयं । एतदपचयस्याप्युपलक्षणं । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

॥ भाषा ॥

तिवस्ति कर्म ये दोषो भोजनं पूर्व करनो योग्य हे ये कर पीछें भोजनमें बिलंब नहीं करनो योग्य हे ॥ २६ ॥

अत्र वस्तिकर्मके गुण कहें हैं द्वाभ्यां ॥ गुल्मछीहोदरमिति ॥ गुल्म छीह जलोदर वात पित्त कफ इनमें उत्पन्न हुये सकल रोगों में वस्तीकर्मके प्रभाव कर नाश होय है ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ जलमें वस्तीकर्मकूं अभ्यास करे ताकै सात धातू रस असृक् मांस मेद अस्थी मज्जा शुक्र ये और पांच ज्ञानेन्द्री पांच कर्मेन्द्री और अंतःकरण मन बुद्धी चित्त अहंकार इनके ताप विक्षेप शोकादि मोह गौरव आवरण दीनता राजसतामसका धर्म ये सब निवृत्त होय हैं और प्रसन्नता कांति जाठराग्नी दीप्ती ताय दें हैं और समस्त जे वात पित्त कफ तिनकी वृद्धि दूर करें हैं और आरोग्यता करे हे ॥ २८ ॥

मू० अथ नेतिः ॥ सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥

मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥

जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

अथ नेतिकर्माह ॥ सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिक-  
स्यापि । यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यं । सुस्निग्धं सुषु स्निग्धं ग्रन्थ्या-  
दिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं मुद्वहं ग्राह्यं । नासा नासिका  
सैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवं ।  
सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेशयेतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च  
मुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासावहिः-  
स्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेशये-  
तरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेशयेतरनासापु-  
टमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत  
इतरनासानालेसूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं  
कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तं । अवाप्ताष्टगुणै-  
श्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिता इति नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

नेतिगुणानाह ॥ कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करो-  
तीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवमशब्दोऽवधारणे । दिव्यां

॥ भाषा ॥

अब नेतीकर्म कहें हैं ॥ सूत्रमिति ॥ विलस्त मात्र सचिकण होय ग्रन्थ्यादि रहित  
होय ऐसो सूत्र लेनो वा नो गुणो दश गुणो पंद्रह गुणो दृढ ग्रहण करना फिर ना-  
सिकामें प्रवेश करे फिर मुखमें तें निकासे याको प्रकार ये हे सूत्रको अंत नासिकामें  
प्रवेशकरके दूसरी नासापुट अंगुलीकरके रोककर पूरक करे फिर मुखकरके रेचन  
करे बारंवार ऐसैं करे तो मुखमें सूत्रको छोड आय जाय वो सूत्रको छोड और नासि-  
काके बहार स्थित जो सूत्रको छोड ये दोनो छोड पकडकरके शनै शनै चलावे ये  
नेती सिद्धननें कही हे ॥ २९ ॥

अब नेतीके गुण कहें हैं ॥ कपालशोधिनीति ॥ ये नेती क्रिया कपालके मैलकूं शुद्ध  
करे हे और नासिकादिकनके मैलकूं वी दूर करे हे और सूक्ष्म पदार्थ जासुं दीख-

मू० निरीक्षेत्रिश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥

अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥

यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया ज-  
त्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च त-  
माशु झटिति निहंति । चकारः पादपूरणे । स्कंधो भुजशिरोऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव  
जत्रुणीत्यमरः ॥ ३० ॥

त्राटकमाह ॥ निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक्-  
दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतं ।  
अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्ष्येत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं  
त्राटककर्म स्मृतं कथितं ॥ ३१ ॥

त्राटकगुणानाह ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं  
तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः ।  
तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकारणं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्ना-  
द्गोप्यं गोपनीयं । गोपने दृष्टान्तमाह ॥ यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटा इति  
लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

नलगे ऐसी दिव्यदृष्टि देवे हे और कंधानकी संधीके ऊपरले भागमें उत्पन्न हुयो जो रोगन-  
को समूह ताय दूर करे हे ॥ ३० ॥

अब त्राटक कहें हैं ॥ निरीक्षेति ॥ एकाग्र चित्त होय निश्चल दृष्टीकर सूक्ष्म लक्ष्य जो  
कलूही पदार्थ ताय देखो करे जब तलक जल नेत्रमें नही आवे तब तलक देखो करे नेत्र-  
में जल आवे तब बंध होय जाय मत्स्येंद्रादिकने ये त्राटक कर्म कह्यो हे ॥ ३१ ॥

त्राटक के गुण कहें हैं ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रके रोगनकुं नाशको करवेवालो हे  
और आलस्य वहीत निद्रादिकनके कपाटकं तंद्राकुं अर्थात् तमोगुणी चित्तकी वृत्ती जो  
क्रोधादिक तिनकुं दूर करे है ओर जेसे सुवर्णकी पेटाकुं छिपायके राखें हैं तैसेही या  
त्राटक कर्मकुं बडे यत्नतें गोप्य राखे ॥ ३२ ॥



मू० अथनौलिः ॥ अमंदावर्तवेगेन तुदं सव्यापसव्यतः ॥

नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३३ ॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥ अशो-  
षदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं चनौलिः ॥ ३४ ॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥

॥ टीका ॥

नौलिकर्माह ॥ अमंदेति ॥ नतौ नग्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमान-  
नमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुदमुदरं । पिचंड-  
कुक्षी जठरोदरं तुदं स्तनौ कुचावित्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दाक्षि-  
णवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद्भ्रमंतं प्रेरयेत् । मि-  
द्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

नौलिगुणानाह ॥ मंदाग्रीति ॥ मंदश्वासावग्निरजठराग्निस्य दीपनं सम्यग्दीपनं  
च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्नि-  
संदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुध्यादि । सदैव  
सर्वदैवानंदकरी सुखकरी । अशोषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च  
रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा  
धौतिवस्त्योनौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

कपालभातिं तदुणं चाह ॥ भस्त्रावदिति ॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं

॥ भाषा ॥

अब नौलि कहें हैं ॥ अमंदेति ॥ नीचे करे हैं दोनो कंधा जाने ऐसो पुरुष अधिक  
जो जलको भ्रमरताकीसीनाई वेगकरके उदरकूं वांयो जेमनो भागकरके भ्रमावे सिद्धन-  
करके नौलि ये कही हैं ॥ ३३ ॥

नौलीके गुण कहे हैं ॥ मंदाग्रीति ॥ मंद जाठराग्रीकूं वढायवेवाली और भोजन क्रि-  
यो जो अन्न ताके परिपाकादिकनकूं करवेवाली और आनंदके करवेवाली और समस्त  
जे दोष रोग वातादिकनकूं सुकायवेवारी हठकी क्रिया धौत्यादिक तिनमें मुकुटकीसी  
नाई उत्तम हे और धौती और वस्ती इत दोनोनमें नौली करणी पड़े हे यातें ये नौली  
कही है ॥ ३४ ॥

अब कपालभाति और याके गुण कहें हैं ॥ भस्त्रावदिति ॥ लुहारकी धोंकनी कीसी

मू० कपालभातिर्विरव्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

पट्कर्मनिर्गतस्थूल्यकफदोषमलादिकः ॥

प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ॥

आचार्याणां तु केषां चिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

॥ टीका ॥

चर्म तद्वत्संभ्रमेण सहवर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभाति-  
रिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । त-  
दुक्तं निदाने । कफरोगाश्चविंशतिरिति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

पट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह ॥ पट्कर्मिति ॥ पट्कर्मभिर्धौतिप्रभृति-  
भिर्निर्गताः । स्थूल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वं । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च  
यस्य स तथा । शेषाद्विभाषेति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं कु-  
र्यात् । ततस्तस्मात्पट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति योग इति  
शेषः । पट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

मतभेदेन पट्कर्मणामनुपयोगमाह ॥ प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः  
पट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यन्ति । मला इत्युपलक्षणं स्थूल्यकफपित्तादी-  
नामिति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म पट्कर्म न संमतं ना-  
भिमतं । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारेत्स्थापयेद-  
पि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते इति ॥ ३७ ॥

॥ भाषा ॥

नाई शीघ्र जो रेचक पूरक करे ताकूं कपालभाति कहें हैं और कफके दोष बीस हे  
तिने सुखायेवारी हे ॥ ३५ ॥

धौतिकं आदिले जो पट् कर्म तिनकरकें निकमे हैं स्थूल भाव कफ दोष मलादिक  
पित्तादिक जाके ऐसा होय फिर प्राणायाम करे इनके करं तेंविना श्रमकरं योग सिद्ध  
होय हे ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामनकर संपूर्ण मैल दूर होंय हैं और याज्ञवल्क्यादिक-  
नके और कर्म हैं ये पट्कर्म संमत नहीं हैं ॥ ३७ ॥

मू० उदरगतपदार्थमुद्धमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥

क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥

अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावद्वद्वो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥

यावदृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

॥ टीका ॥

गजकरणीमाह ॥ उदरगतमिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतः प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्न-जलादिस्तं परयोद्धमंत्युद्धिरंति यया योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति कचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शंखिन्या मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आर्दिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशा देवाः अंत्यतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवा-योरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिन्तत्परा अवहित्ता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे वद्धः श्वासोच्छ्वा-

॥ भाषा ॥

अब गजकरणी कहे हैं ॥ उदरगतमिति ॥ अपान जो वायू ताकूं कंठनालमें चढाय फिर उदरमें प्राप्त हुयो जो भुक्तपीत भोजन पान क्रियो अन्न जलादिक ताय निकाल डोर या क्रमकरकें जो अभ्यास ताकरकें वशीभूत हे नाडीनको समूह जामें ऐसी क्रिया सो हठके जानवेवारे योगीनकरकें गजकरणी कही हे ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा हैं आदिमें जिनके ऐसे देवता तेवी कालके भयतें पवनाभ्यासमें तत्पर होते भये तातें पवनाभ्यास करे ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ जवताई वायू शरीरमें रुको रहे जवताई अंतःकरण व्याकुल नही

मू० विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥

सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥

यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वति कुंभकान् ॥

॥ टीका ॥

सक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितं । यावद्भुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतस्तस्माद्भवः कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति । खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिनेति स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्यावदनं मुखं भित्वा सुखादनायासाद्विशति सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ मध्ये सुषुम्नामध्येसंचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुषुस्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था । मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः । तथाग्रे वक्ष्यति । राजयोगः समाधिश्चेत्यादिना ॥ ४२ ॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह ॥ तत्सि-

॥ भाषा ॥

होय जवताई भ्रुकुटीनके मध्यमें दृष्टी रहे तवताई कालमें भय नहीं होय ॥ ४० ॥

विधिवदिति - ॥ आसन जालंधरबंधादिक विधियुक्त जो प्राणायाम तिनकरके नाडीनको समूह शुद्ध होय जव वायू इडा पिंगलाके मध्यमें सुषुम्ना नाडी ताको मुख-भेदकरके सुषुम्नाके भीतर सुखपूर्वक प्रवेश करे हे ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ जव वायु सुषुम्नाके भीतर गमन करे तव मनकूं स्थैर्य होय हे अर्थात् ध्यानके योग्य आकारमें वृत्तिप्रवाह होय हे जो मनकूं स्थिर भाव होय सोहि मनोन्मनी अवस्था कहें हैं तूर्य अवस्थाकूं उन्मनी और मनोन्मनी अवस्था कहें हैं ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धय इति ॥ और जे कुंभकके अनुष्ठान प्रकारकूं जाने हैं ते उन्मनी अवस्था-

मू० विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः ॥ सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली

तथा ॥ भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा छाविनीत्यष्ट कुंभकाः ॥ ४४ ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥

कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूडियानकः ॥ ४५ ॥

॥ टीका ॥

द्वय इति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धय उन्म-  
न्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधानकुंभकान्कुर्वति विचित्राश्च  
ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिषादिभेदेन नाना-  
विधां विलक्षणां वा जन्मोपधिमंत्रतपोजातां । तदुक्तं भागवते । जन्मोपधितपोमं-  
त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वानान्यैर्योगगतिं व्रजेदिति । आप्रया-  
त्प्रसाहारादिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथाष्टकुंभकानामभिनिर्दिशति ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टं ॥ ४४ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूर-  
कांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो चत्वारिंशत् प्राण-  
वायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिवुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरक-  
स्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुंभकादावुडियानकस्तु कुंभकांते  
कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्न-

॥ भाषा ॥

की सिद्धीके अर्थ विचित्र जे सूर्यभेदनादि भेदकरके नानाप्रकारके कुंभक करें हैं  
और विचित्र कुंभक के अभ्यासते विचित्र सिद्धी प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

अब कुंभकके भेद कौंहें हैं ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ सूर्यभेदनं १ उज्जायी २ सीत्कारी ३  
सीतली ४ भस्त्रिका ५ भ्रामरी ६ मूर्च्छा ७ छाविनी ८ ये आठ कुंभक हैं ॥ ४४ ॥

पूरकांत इति ॥ आदिमें मूलबंध करे फिर पूरकके अंतमें शीघ्रही जालंधर बंध करे  
नाड नीचीकर ठोडीके हृदयके ऊपर स्थापन करनो ये जालंधर बंध है और कुंभक  
के अंतमें कलूक कुंभक शेष रहे रेचककी आदिमें उडियानबंध करे यत्ने नारीकुं  
पीछें खेंचनो ये उडियान बंध है ॥ ४५ ॥

मू० अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥

मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

॥ टीका ॥

विशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चमतःपृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियान-बंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुपुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुपुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यं । यदि श्रीगुरुमुखा-जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणा-यामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लो-कोत्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलब-ंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांथं नादमांथं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यं । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जात इति ॥ ४६ ॥

॥ भाषा ॥

अधस्तादिति ॥ अधोदेशतै मूलबंध कर आधारको आकुंचनकरकें फिर जालंधर-बंध करे फिर उड्डियानबंध करे इन तीनों बंधकरकें वायु ब्रह्मनाडी जो सुपुम्ना ताय प्राप्त होय और ये रहस्य कहें हैं जो गुरुमुखतै जिह्वाबंध जाननो तो जिह्वाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकें ही प्राणायाम सिद्ध होय हे और वायुप्रकोप नहीं होय आधीन दे-ह रहे कृश रहे मुख प्रसन्न रहे ये सर्व चिन्ह होय हैं मूलबंध उड्डियानबंध उपयोगी नहीं हे इन दोनोंनकुं जिह्वाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकें सिद्ध होय जाय और जो जिह्वाबंध नहीं आतो होय तो अधस्तात् कुंचनेन या श्लोकमे कही जो रीती ता रीती-कर प्राणायाम करनो योग्य हैं तीने बंध गुरुमुखतै जाननो योग्य हे और मूलबंध अच्छी-तरें नहीं जानते होय तो नानारोगनकुं प्रगट करे बिना आयें जो मूलबंध करे तो धातु-क्षय विष्टंभ अग्नीको मंदपनो नादको मंदपनो और गुटिकाके समूह आकार होय

मू० अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥

योगी जरविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

आसने सुखदे योगी बध्वा चैवासनं ततः ॥

॥ टीका ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठा-  
दधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी यो-  
गाभ्यासी जरया वार्धकेन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समा-  
हारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि पूरकांति तु कर्तव्य  
इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि पूरकांति तु कर्तव्य  
इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । अधस्तात्कुंचनेनेत्यनेन बंधानां स्वरूपमुक्तं । अपा-  
नमूर्ध्वमुत्थाप्येत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते  
नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डियानबंधो भवत्येवेत्यस्मिन् श्लोके नोक्तः ।  
तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायां । मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते  
नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवतीति ॥ ४७ ॥

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकाले  
ऽथवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवतां । शौचं कृत्वा दंत-  
शुद्धिं विदध्याद्रस्मधारणं ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।  
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरं ॥ ३ ॥ देशकलौ च संकीर्त्य संकल्प्य वि-  
धिपूर्वकं । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्व-  
कान् प्राणायामादीन् करिष्ये । अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥  
मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततो-  
ऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनं । अंते समभ्यसेत्तच्च श्रमाभावे तु नाभ्य-

॥ भाषा ॥

वकरियाकीसी मेंगनी होय तव मूलबंध अच्छी तरें नही जानें हैं ये ऐसो जाननो जब  
धातु पुष्ट होय सुंदर मैलकी शुद्धी होय जाठराग्रिकी दीप्ती होय सुंदर नादकी प्रगटता  
होय तव जाननो मूलबंध सुंदर जाने हे ॥ ४६ ॥

अपानमिति ॥ अपानवायुकुं ऊपर उठाकरके आधारकू आकुंचनकरके वायुकुं  
कंठतें नीचै लेजाय वो योगी वृद्ध अवस्थातें छूटके षोडश वर्षकोसो होय जाय ॥ ४७ ॥

आठ मकारके कुंभक तिनमें प्रथम सूर्यभेदन और याके गुण कहें हैं ॥ आसन

मू० दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

सेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं  
कुम्भकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्मांगं प्राणसंयमं । योगीन्द्रादी-  
न्मस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥ कूर्मपुराणे शिववाक्यं । नमस्कृत्याथ  
योगीन्द्रान्सशिष्यांश्च विनायकं । गुरुं चैवाथ मां योगी गुंजीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥  
बद्ध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबंधपूर्वकं । प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने  
॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुम्भकाः सुसमाहितैः । योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं  
चंद्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बं-  
धपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां  
च समभ्यस्य कुर्यादन्यानवापरान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बद्ध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक-  
र्मं । ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचितनं ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरा-  
र्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा  
समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः । मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनं  
॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवंगं वा भोज-  
नान्ते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छन्ति तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन  
रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनां ॥ १७ ॥ इति चिंतामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते  
नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानंतरं कुर्यान्मो-  
क्षशास्त्रावलोकनं । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्या-  
विधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥  
अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्व-  
वद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं  
यतः सा न प्रशस्यते ॥ २२ ॥ अथोद्देशानुक्रमणं कुम्भकान्विवक्षुस्तत्रप्रथमोदितं

॥ भाषा ॥

इति ॥ योगी सुखदेवे ऐसो पवित्र देश तामें स्थित होय आपको आसन स्थिर होय अ-  
त्यंत ऊंचो नहीं होय अति नीचो नहीं होय एकांतमें सुखपूर्वक आसनमें स्थित होय  
फिर स्वस्तिकासन वीरासन सिद्धासन पद्मासन औरवी आसन हैं सबमें मुख्य आसन सि-  
द्धासन हे ताय बांधकरकें आसन बांधेके पीछें दक्षिणभागमें स्थित नाडी पिंगळाकर-  
कें देहमें बहार वर्त्तमान वायु ताय शनै शनै खेंचकरकें पूरक करें ॥ ४८ ॥



सू० आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥

ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

॥ टीका ॥

सूर्यभेदनं तदुणांश्चाह त्रिभिः ॥ आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सु-  
खदे । शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैला-  
जिनकुशोत्तरमित्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीर-  
इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनं आस्यतेऽनेनेति वा  
तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सि-  
द्धासनमेव वा बध्वैव बंधनेन संपादैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबंधानंतरं दक्षा  
दक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं  
शनैर्मंदमंदमाकुष्य पिंगलया मंदमंदं पूरकं कृत्वैत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आकेशादिति ॥ केशानामर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्रानामर्यादीकृत्येत्यान-  
खाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभ-  
येत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोनिरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं  
कुर्यादित्यर्थः । ननु हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारय-  
त्येष कुष्ठादि जनयत्यपि । ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो  
गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् । करोति शास्तुनिर्देशान्न च तं पारलंघयेत् ।  
तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः । गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपग-

॥ भाषा ॥

आकेशादिति ॥ केशपर्यंत नखाग्रपर्यंत वायुको निरोध करे अर्थात् अतियत्नकर कुं-  
भक करे तो रुको हुयो वायु रोमनमेंसुं निकस देहकूं विदीर्ण करे हे और कुष्ठादि रो-  
गकूं प्रगट करे हे जैसे वनमें हाथि सिंघ इनकूं होलेहोले पकड़े रीतसुं तो सुखपूर्वक  
पकडले और जो नलदी करे तो दुःख होय जाय पकडवेमेवी नहीं आवे ऐसैही यत्न-  
करकें कुंभक करे ॥ और में शीघ्रही जय करूंगो या बुद्धीकर बहुत अभ्यासमें परायण  
होय याते कह्यो वनके हाथी कीसीनाई क्रमतें करे और कहूं ऐसोवी कहैं हैं अतियत्न-  
करकें कुंभक करे जेसो अधिक करे तेसो गुण अधिक होय जेसो जेसो शिथिल कुंभक  
होय तेसो तेसो गुण अल्प होय यामें योगीनको अनुभव प्रमाण हे पूरक तो शनै शनै  
करनो योग्य हे अथवा वेगतेवी करे तो दोष नहीं ओर रेचकतो शनै शनै वेगते रेचक  
करे तो बलहानी होय यातें वामनाडी जो इडा ताकरकें वायुकूं मंदमंद रेचक करे ॥ ४९ ॥

मू० कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

अथोज्जायी ॥ मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥

यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

॥ टीका ॥

च्छतीति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । दृष्टान्निरुद्धः प्राणोऽयमिति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः ॥ एवंच बद्धाभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टान्तस्वारस्याच्च । अतएव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्विति प्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातिप्रयत्नेन कुंभकः क्रियते तथा । तथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथा-तथा । गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानं । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः । वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैःशनैर्मंदमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तथा सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्वहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं । विस्मये च विपादेच दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यत इति ॥ ४९ ॥

कपालशोधनमिति ॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् । पुनः पुनर्भूयोभूयः कार्यं । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चंद्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं योगिभिरिति शेषः ५०

उज्जायिनमाह सार्धेन ॥ मुखमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा

॥ भाषा ॥

सूर्यभेदनके गुण कहे हैं ॥ कपालशोधनमिति ॥ मस्तककी शुद्धी करे हे और वाततें उत्पन्न हुये जे अशी दोष तिने दूर करे हे और उदरमें पडगये जे कीडा तिनके विकार दोषनकुं दूर करे हे यातें ये बारबार करे सूर्यकरके पवनपूरक करे चंद्रकरके वायुकुं रेचन करे यारीतकर उत्कृष्ट हे योगीनकरके प्रथम सूर्यभेदन कसो हे ॥ ५० ॥

अब दूसरो उज्जायिकुंभक कहे हैं ॥ मुखमिति ॥ मुख मूदकरके पवन कंठतें ले

मू० पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥

श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥

गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

मुद्रयित्वेत्यर्थः । कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वेनेन सहितं यथासात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेदित्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्तज्जित् । उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन ॥ श्लेष्मदोषहरमिति ॥ कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहे मध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंतादेहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वंद्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनं । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेनास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यं । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिङः । पुल्लिङ्गपाठे तु विशेषणेष्वपि पुल्लिङ्गः पाठः कार्यः ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

कर हृदयपर्यंत शब्दसहित लगे ऐसो इडाकरके पिंगलाकरके वायुं शनैः शनैः खेच करके पूरक करे फिर केशपर्यंत नखपर्यंत कुंभक करे ता पीछे इडा जोवाई नासिका ताकरके रेचन करे ॥ ५१ ॥

उज्जायीके गुण कहें हैं ॥ श्लेष्मदोषहरमिति ॥ कंठमें कफके दोष तिनें हरे हे और देहमें भीतर जाठराग्नीकू दीपन करे हे ॥ ५२ ॥

नाडीति ॥ नाडीमें जलकी व्यथा देहमें वर्तमान धातूनमें दोष विकार ताय नाश करे और गमन करे और स्थित होय ता पुरुषकरके उज्जायी करनो योग्य हे ॥ ५३ ॥

मू० अथ सीत्कारी ॥ सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भि-  
काम् ॥ एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥  
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥  
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

सीत्कारीकुंभकमाह ॥ सीत्कारमिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति  
शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरन्तरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं  
कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तं ।  
एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानन्तरमपि न कार्यं ।  
बलहानिकरत्वात् । विजृम्भिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि  
सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः  
पौनः पुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः काम-  
देवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः । तस्य सामान्यः संसेव्यः सृष्टिः प्रपं-  
चोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जल-  
पानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कार्याचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं क-  
फादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवाति । एवमभ्यासयोगेनेति  
प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

अब तीसरो सीत्कारी कुंभक कहें हैं ॥ सीत्कारमिति ॥ मुखमें ओष्ठनके मध्यमें  
लगी जिह्वा ताकर सीत्कारकरके पवनकुं मुखकर पूरक करे फिर दोनो नासिकाके  
पुटनकरके रेचक करे और मुखकरके वायुको निकासनो अभ्यासके पीछेवी नहीं करनो  
बलकी हानी करे हे यातें विजृम्भिका रेचक करे अर्थात् मुख नहीं खोले दोनो नासिका  
कर रेचन करनो याकुं विजृम्भिका रेचक कहें हैं और कुंभक यामें कह्यो नहीं हे तोवी  
सीत्कार पूरककर कुंभक करले और या प्रकार बारंवार करे तें रूप लावण्यकी अधि-  
कताकर दूसरे कामदेव कीसीनाई होय जाय ॥ ५४ ॥

स्त्रीनके समूहकुं सेवन करवेकुं योग्य होय और सृष्टिसंहारको कर्ता होंय और  
क्षुधा तृषा निद्रा आलस्य ये नहीं होंय ॥ ५५ ॥

मू० भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥

अनेन विधिना सत्त्वं योगीन्द्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ॥ जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥

शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५७ ॥

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥

विषाणि शीतलीनाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासविधिना योगीन्द्रो योगिनामिन्द्र इव योगीन्द्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्त्वं । सर्ववाक्यं सावधारणमिति न्यायात् । यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शीतलीकुंभकमाह ॥ जिह्वयेति जिह्वयोष्ठयोर्वहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृतेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृतेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव । अव्ययसर्वनाम्नामित्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत् ५७ शीतलीगुणानाह ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान् । शीतलीनामेति प्रसिद्धार्थिकमव्ययं । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दः स्त्री-

॥ भाषा ॥

भवेदिति ॥ शरीरकू बल होय और कही जो ये अभ्यास विधि ताकरके योगीनमें इंद्र कीसीनाई पृथ्वीमें सर्वोपद्रव वर्जित होय जो ये कह्यो हे सो फल सत्य हे ॥ ५६ ॥

अब चौथो शीतलीकुंभक कहें हैं ॥ पक्षीकी नीचली चोंचकी समान अपनी जिह्वा होटनके वहार निकास वायुकू खेंचके पूरककरके फिर पहले सूर्यभेदनमें कह्यो तेंसेही कुंभकको साधन करे फिर सुंदर हे बुद्धी जाकी सो नासिकाके छिद्रनकरके शनै शनै वायुकू रेचक करे ॥ ५७ ॥

शीतलीके गुण कहें हैं ॥ गुल्म प्लीह ये रोग हैं आदिमें जिनके ऐसे रोग और ज्वर पित्तको विकार और भोजनकी इच्छा जलपानकी इच्छा और सर्पके काठेको विष औरवी विष इन सबनकू ये शीतलीनाम कुंभिका दूर करे हे ॥ ५८ ॥

मू० अथ भस्त्रिका ॥ ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले  
 उभे ॥ पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥  
 सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥  
 मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥  
 यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥  
 वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

॥ टीका ॥

लिङ्गोऽपि । तथाच श्रीहर्षः । उदस्य कुम्भीरथशातकुम्भजा इति ॥ ५८ ॥

भस्त्राकुम्भकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह ॥ ऊर्वोरिति ॥ उप-  
 र्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधःप्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा  
 ब्रसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनं । अत्रोपरी-  
 त्यव्ययमुत्तानवाचकं । तथा च कारकेषु मनोरमायां उपर्युपरि बुद्धीनामित्यत्रो-  
 परि बुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतं ॥ ५९ ॥

भस्त्रिकाकुम्भकमाह ॥ सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरं । प्राण्यंगत्वा-  
 देकवद्भावः । समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः  
 पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन  
 घ्राणस्यैकतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतः स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह ॥ यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे । समाहारद्वंद्वः ।  
 कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण

॥ भाषा ॥

अब पांचमो भस्त्राकुम्भकको भेद कहें हैं ॥ ऊर्वोरिति ॥ ऊरूनके उपरि दोनों पा-  
 मनके तलुआ उत्तानपूर्वक स्थापनकरके स्थित होय ये पद्मासन हे केसो हे संपूर्ण पाप-  
 नके नाशको करवेवालो है ॥ ५९ ॥

सम्यगिति ॥ समान है ग्रीवा उदर जाके सुंदर है बुद्धी जाकी एसो पुरुष स्थिर  
 पद्मासन बांधकरके मुखमूढ़करके यत्नसु नासिकाके एकमाऊंके रंध्रकर वायुं  
 रेचक करे ॥ ६० ॥

कपालपर्यंत शब्दसहित हृदय कंठमें वायुलगे तेसो रेचन करे फिर हृदयकमल-  
 पर्यंत वेगकरके वायुं पूरक करे ॥ ६१ ॥

मू० पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥

यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥

यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥

धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

॥ टीका ॥

लगति प्राण इति शेषः तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थं ॥ ६१ ॥

॥ पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह ॥ यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेधमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह ॥ यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले । यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । लघुक्षिप्रमरं द्रुतमित्यमरः ॥ ६३ ॥

पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह ॥ धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृहीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

॥ भाषा ॥

पुनरिति ॥ पहलें कीसीनाई फिर रेचक करे फिर पूरक करे फिर रेचक करे जैसें लुहार चामकी धोकनीकूं जेसे वेगकरकें चलावे हे तेसैंही वेगकर पूरक रेचक करे ॥ ६२ ॥

यदाश्रम इति ॥ पूरक और रेचक इनको निरंतर एसैं आवर्तन करतें करतें जा कालमें देहमें श्रम होय ताई कालमें जा प्रकारकर वायुकरकें शीघ्रही उदर भर जाय ता प्रकारकर सूर्यनाडीकरकें पूरक करे ॥ ६३ ॥

धारयेदिति पूरक करे पीछें अंगूठाकरकें जेमनी नासापुट रोककरकें और अनाभि-



मू० विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेद्विडयानिलम् ॥

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

॥ टीका ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चंद्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्त्राकुंभकस्येवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चाद्विडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावद्वदिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत् । पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह ॥ वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान् हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनं ॥ ६५ ॥

॥ भाषा ॥

का कनिष्ठिकाकरकें वाम नासापुटकूं रोककरकें दृढ नासिकाग्रहण करे ॥ ६४ ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडानाडी ताकरकें वायुकूं रेचक करे या भस्त्राकुंभककी ये रीत हे सो जानो वांई नासिकापुटकूं दक्षिण भुजाकी अनामिकाकनिष्ठिकाकर रोक ले फिर दक्षिण नासिकाके पुटकरकें धोंकनी कीसीनाई वेगकरकें रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तब ताई नासापुटकरकें पूरक करे अंगूठाकर जेमनी नासिका मूंदकरकें जेसी शक्ति होय तेसो कुंभक करे फिर इडाकरकें रेचक करे फिर दक्षिण नासापुटकूं अंगूठाकूं रोक वाम नासापुटकरकें धोंकिनी कीसीनाई शीघ्रही रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तोवांई नासिकापुटकरकें फिर पूरक करे फिर अनामिका कनिष्ठिकाकर वामनासापुट रोककरकें कुंभक करे फिर पिंगलाकर रेचक करे ये एक-



मू० कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥

ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

॥ टीका ॥

क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तुं पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ । शीत्कारी शीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । शीत्कारी शीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्रारूयः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यं । ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति । तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तुं ॥ ६६ ॥

॥ भाषा ॥

रीती हे अव दुसरी रीती कहें हैं वाम नासापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकाकर रोककर दक्षिण नासिकाके पुटकर पूरककरकें शीघ्रही अंगुठासुं रोककर वाई नासिकाके पुटकर रेचक करे या प्रकार सोपोत करे फिर श्रम होय तो ताईकरकें पूरक करे बंधपूर्वक पूरककरकें इडाकरकें रेचक करे दक्षिण नासिकाको पुट अंगुठाकरकें रोककर वाम नासापुटकर पूरककरकें शीघ्र वामनासिकापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकासुं रोककरकें पिंगलाकरकें रेचक करे धोकनी कीसीनाई वारंवार एसेंकरकें रेचक पूरक कर श्रम होय तो वामनासापुटकरकें पूरककरकें अनामिकाकनिष्ठिकाकरकें कुंभक कर पिंगलाकरकें रेचक करे ये दूसरी रीति हे ॥ अस्त्रिकाके गुण कहें हैं ॥ वात पित्त श्लेष्म इनें दूर करे हैं और शरीरमें जठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ६५ ॥

और शीघ्रही कुंडली सूतीकूं बोधकरे हे और पवित्रको करवेवारो हे सुखको करवेवारो हे और त्रिदोषकूं हरे हैं यातें सर्वको हितकारी हे और सब कुंभकनकूं हितकारी हे कैसें सो कहें हैं सूर्यभेदन उज्जायी ये दोनो उष्ण हे शीतकालमें करे हितकारी हैं और शीत्कारी और शीतली ये दोनो शीतल हैं ये गरमीनमें अधिक हितकारी हैं और भस्त्राकुंभक ये समान हे शीत उष्ण जामे एसो हे सब समे हितकारी हे और सबलें कुंभक सर्व रोगकूं हरे हैं सूर्यभेदन तो वोहेत करकें वात रोगकूं हरे हे और उज्जायी अधिक कर

सू० सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रंथित्रयविभेदकम् ॥

विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ॥ वेगाद्धोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥

योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥ ६८ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुपुत्रायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकं । अतएव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्य कर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुंभकमाह ॥ वेगादिति ॥ वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा । भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिन्स्तत्तथा मंदमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ । एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगीन्द्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

॥ भाषा ॥

श्लेष्मकूं हरे हे और सीत्कारी शीतली ये दोनो पित्तकूं हरे हे और भस्त्राख्य कुंभक त्रिदोषकूं हरे ये जाननो और ब्रह्मकूं प्राप्तकी करवेवारी हे यातें सुपुत्राकूं ब्रह्मनाडी कहे हैं ता सुपुत्रा नाडीके मुखमें अर्थात् अग्रभागमें स्थित जो कफादिकरूप जो आगल वायुकी गतीकूं रोकवेवाली ताकूं नाश करे हे ॥ ६६ ॥

दृढ शरीरमें जो सुपुत्रा नाडी तामें उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथी ब्रह्मग्रंथी विष्णुग्रंथी रुद्रग्रंथी तिनकूं विशेषकरके भेदन करे हे यातें ये भस्त्रानाम कुंभक हे सो अवश्य करना योग्य हे और सूर्यभेदनादिक जेसो बने तेसोई करना ॥ ६७ ॥

अब छटो भ्रामरीनाम कुंभक कहें हैं ॥ वेगादिति ॥ जो पूरक वेगसुं करे तो भ्रमरकोसो नाद होय हे और जो होले करे तो भ्रमरीकोसो नाद होय हे जो वेगसुं भ्रमरकोसो नाद जामें होय तेसो पूरककरके फिर भ्रमरीकोसो नाद जामें तेसो मंदमंद रेचक करे रेचक पूरक इनकी विशेषता हे यातें येही लिखें हैं और पूरकके पीछें कुंभकतो भ्रामरीकूं कुंभक स्वभावसिद्ध हे यातें विशेष नही लिप्यो या रीतकर अभ्यासके योगतें योगीन्द्रनके चित्तमें नही कहवेंमें आवे एसी आनंद लीला होय हे ॥ ६८ ॥

मू० अथ मूर्छा ॥ पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः ॥

रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

अथ छाविनी ॥ अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥

पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥

सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

॥ टीका ॥

मूर्छाकुंभकमाह ॥ पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बध्वा शनैर्मंदमंदं रेचयेत् । इयं कुम्भिका मूर्छनाख्या मूर्छना इत्याख्या यत इति मूर्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्छयतीति मनोमूर्छा एतेन मूर्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तं । पुनः कीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

छाविनीकुंभकमाह ॥ अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः स भीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ७० ॥

अथ प्राणायामभेदानाह ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतःसंचारिवायो-  
रायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन । प्राणः  
स्वेदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति । रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा

॥ भाषा ॥

अब सातवो कुंभक मूर्छानाम कहें हैं ॥ पूरकांते इति ॥ पूरककरके अंतमें जालंधर-  
नाम बंध बांधकरके शनै शनै रेचक करे ये कुम्भिका मूर्छनानाम हे मनकुं मूर्छा करे हे  
जासुं मनोमूर्छा कहे हैं केसी हे ये सुखके देनेवाली हे ॥ ६९ ॥

अब आठवो छाविनीकुंभक कहें हैं ॥ अंतरिति ॥ शरीरके भीतर अन्यो जो अधिक  
वायू ताकरके च्यारोमेरतें भर लियो हे उदर जानें एसो पुरुष अगाध जलमें कमलके  
पत्र कीसीनाई सुखतें गमन करे ॥ ७० ॥

अब प्राणायामके भेद कहें हैं ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राण जो शरीरके भीतर वायू  
ताकुं रोकनो जाकुं प्राणायाम कहें हैं सो प्राणायाम रेचक पूरक कुंभक इन भेदनकर  
तीन प्रकारको हे उदरमें तें वायुकुं रेचन करे ताकुं रेचक कहें हैं और वहारतें वायुकुं  
उदरमें भरे ताकुं पूरक कहे हैं और पूरककरके वायुकुं घटकीसीनाई धारण करे

मू० यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥

रेचकं पूरकं मुत्का सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह । याज्ञवल्क्यः । बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृत इति रेचकप्राणायामलक्षणं । निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचकोनाम महानिरोधः । पूरकलक्षणं । बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः । पूरकप्राणायामलक्षणं । बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः । कुंभकलक्षणं । संपूर्य कुंभवद्वायोधारणं कुंभको भवेत् । अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः भिन्नस्तु । न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुं । मुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ अथ प्रकारान्तरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः । सहितः केवलश्चैति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तं । आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः । तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुंभकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥ ७१ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह ॥ यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धिः

॥ भाषा ॥

ताकूं कुंभक कहें हैं और कुंभक दो प्रकारको है एक सहित दूसरो केवल ये योगीनके संमत है तामें सहित दो प्रकारको है रेचकपूर्वक और कुंभकपूर्वक रेचकपूर्वक रेचक प्राणायामतें न्यारो नही है पूरकपूर्वक कुंभक पूरक प्राणायामतें अभिन्न है केवल कुंभक कुंभक प्राणायामतें न्यारो नही है ये पहलें सूर्यभेदनादिक कहे हैं उनमेंसुं पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जान लेनो योग्य है ॥ ७१ ॥

यावदिति ॥ केवलकुंभककी सिद्धी जवतलक होय तवतलक सहित कुंभकसूर्यभेदादिक करे सुपुत्राके भेदनके पीछें सुपुत्राके भीतर घटकोसो शब्द होय तब केवलकुंभक सिद्ध होय ताके पीछें सहित कुंभक दश करे फिर बीस करे एसे अशीसंख्या तक करनो फिर सामर्थ्य होय तो अशीतें अधिक करे अब केवलकुंभकको लक्षण कहें हैं ॥ रेचक पूरक त्यागकरके सुखपूर्वक वायूकूं धारण करे सो केवलकुंभक कहें हैं ॥ ७२ ॥

सू० प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥

कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चिद्विषु लोकेषु विद्यते ॥

शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥

कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं सहितकुम्भकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवन्ति तदा केवलकुम्भकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुम्भका दश विंशति वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुम्भकैरेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुम्भका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुम्भकस्य लक्षणमाह ॥ रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्ता त्यक्ता सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

॥ सवा इति ॥ मिश्रितः केवलकुम्भकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसन्ति ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुम्भके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किञ्चित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वापि न विद्यते तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः ॥ शक्त इति ॥ केवलकुम्भकेन कुम्भकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः । कुम्भकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह ॥ कुम्भकादिति ॥ कुम्भकात्कुम्भकाभ्या-

॥ भाषा ॥

रेचक पूरक इनकरके वर्जित केवल कुम्भक सिद्ध होय जाय ॥ ७३ ॥

ता योगीकू तीनो लोकनमें दुर्लभ कछू नही हे केवल कुम्भकके अभ्यासकरके समर्थ होय यथायोग्य वायूके धारण करे तें ॥ ७४ ॥

राज योग पद प्राप्त होय हे यामें संदेह नही हे निश्चय होय ओर कुम्भकके अभ्यास तें कुण्डली जो आधार शक्ति ताको बोध होय और कुण्डलीके बोधतें निद्रा आलस्यादिक मिटे हैं ॥ ७५ ॥

मू० अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥ हठं विना राज-  
योगो राजयोगं विना हठः ॥ न सिध्यति ततो युग्ममनिष्प-  
त्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥

एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

सात्कुंडल्याधारशक्तिसस्या बोधो निद्राभंगो भवेत् । कुंडल्या बोधः कुंडलीबो-  
धस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५ ॥

सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः  
प्रत्याहारादिपरंपरया केवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः पर-  
स्पोपकार्योपकारकत्वमाह ॥ हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति  
राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राज-  
योगसिद्धिमामर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोग-  
राजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र  
राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतु-  
र्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतायुक्तं पंचदशांगरूपं द-  
शांगरूपं च । वाक्यमुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह ॥ कुंभकेति ॥ कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्त-  
स्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माका-  
रस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तीत्याभ्यासस्य योगो युक्ति-  
स्तेन । योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिर्प्राप्तिः कोशः । राजयोगपदं राजयो-  
गात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

और सुषुम्नानाडीके कफादिक आगल दूर होय जाय और हठसिद्धि होय कहां  
मोक्ष होय हठयोग विना राजयोगसिद्धि नहीं होय और राजयोग विना हठयोग नहीं  
सिद्ध होय और राजयोगसिद्धि न होय तबताई हठयोग और राजयोग ये दोनो-  
नको अभ्यास करे ॥ ७६ ॥

कुंभकेति ॥ कुंभककरके प्राणको रोकनो ताके अंतमें चित्तकूं आश्रय रहित करे  
या रीत कर अभ्यासयोगकरके राजयोग पद ताय प्राप्त होय ॥ ७७ ॥

मू० वपुः कृशत्वं वदनेप्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥  
 अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥  
 इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह ॥ वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्यं वदने  
 मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले  
 अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदुर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्रेरौदर्यस्य दी-  
 पनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या  
 लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं ॥ ७८ ॥

॥ इति श्री हठप्रदीपिकाव्याख्यायां ऽज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्विती-  
 योपदेशः ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

वपुःकृशत्वमिति ॥ देहकूं कृशता होय और मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रगटकता  
 नेत्र निर्मल होय और रोगरहित होय धातुकी जय होय उदरमें जाठराग्नीकी दीप्ति  
 कहा वृद्धि होय और नाडीनकी शुद्धि होय ये हठयोगको लक्षण हे ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां भाषाव्याख्यायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

मू० सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥

सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥

तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥

तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथकुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥ सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सहवर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां । धात्र्या एकस्वेऽपि देश-भेदाद्भेदमादाय बहुवचनं । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि पट्टचक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति । ग्रंथ-योऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राज-पथमिवाचरति राजयथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्त-मालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुंडलीकूं सर्व उपायनको आधार कहें हैं ॥ सशैलेति ॥ जैसें पर्वत वन नगर ग्राम सहित जो पृथ्वी तिनको आधार सर्पनके नायक शेषजी हे तैसेंही संपूर्ण जो योगके उपाय तिनकी कुंडली आधार हे विना कुंडलीके जागें सब योगनके उपाय व्यर्थ होय हैं ॥ १ ॥

अब कुंडलीके जागवेको फल कहें हैं ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ति हुई कुंडली गुरुनके अनुग्रहकरके जाग उठै तब संपूर्ण जे पट्टचक्र ते भेदकूं प्राप्त होय हैं याके पीछें ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथि ये तीनो ग्रंथिभेदनकूं प्राप्त होय हैं ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तब सुषुम्ना नाडी वायूकूं राजमार्ग कीसीनाई आचरण करे हैं और



मू० सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥  
 श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥  
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥  
 ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥  
 महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥  
 उड्ड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥  
 करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥  
 इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः  
 एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन  
 सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखे-  
 ऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तमीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोध-  
 यितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च

॥ भाषा ॥

तब चित्तवी निर्विषय होय हे और तब काल जो मृत्यु ताकुंवी तिर जाय अ-  
 र्थात् मृत्युकुं वचाय जाय ॥ ३ ॥

सुषुम्नेति ॥ सुषुम्ना नाडी शून्यपदवी हे और ब्रह्मरंध्रकूं प्राप्त होयवेकूं महामार्ग हे  
 श्मशान प्राति शांभवीको मध्य मार्ग हे ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ कुंडलीके बोधतें षट्चक्रभेदादिक होंय हैं तातें संपूर्ण यत्नकरकें  
 ब्रह्मको द्वार सुषुम्ना ताको मुख कहा अग्रभागमें सुषुम्नाको द्वार ताय रोक  
 कर सूती हुई जो कुंडली ताय प्रकर्षकरकें बोध करवेकूं महामुद्रादिकनको अ-  
 भ्यास करे ॥ ५ ॥

महामुद्रेत्यादिना ॥ महामुद्रा १ महाबंध २ महावेध ३ खेचरी ४ उड्डियान ५ मू-  
 लबंध ६ और जालंधर नामबंध ७ ॥ ६ ॥

विपरीत नाम जाको एसी करणी ८ वज्रोली ९ शक्तिचालन १० ये दश मुद्रा हैं

मू० आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥

वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशिनं निवारकं । ॥ ७ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यं । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसं । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशिता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यं । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वं च ते सिद्धाश्च कर्मापलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

जरामरणकूं नाश करें हैं ॥ ७ ॥

और ये आदिनाथ जो शिवजी तिनमें कह्यो दिव्य है और आठ ऐश्वर्य अणिमा १ महिमा २ गरिमा ३ लघिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशिता ७ वशिता ८ ये आठ सिद्धि हैं इनमें देवे है ॥ अब इन आठों सिद्धिमें लक्षण कहें हैं ॥ योगीके संकल्पमात्रकरके प्रकृति दूर होय जाय परमाणु कीसीनाई देह सूक्ष्म होय जाय ताकूं अणिमा कहें हैं ॥ १ ॥ और जो प्रकृतिके आपूरकरके अर्थात् प्रकृतीकूं अपने भीतर भर ले फिर आकाशादिक कीसीनाई स्थूल महान् होय जाय ताकूं महिमा कहें हैं ॥ २ ॥ वोहोत हलको रूईकूं आदिलेके तिनकूं पर्वतादिकनको सो भारी पनहोनो ताकूं गरिमा कहें हैं ॥ ३ ॥ जो भारी पर्वतादिक हैं तिनकूं रूई कीसीनाई लघु कहा हलको होय ताकूं लघिमा कहें हैं ॥ ४ ॥ और जो सर्व पदार्थ सन्निध होय जाय अर्थात् जेसं पृथ्वीमें तो ठाडो होय और अंगुलीके अग्रकरके चंद्रमाकूं स्पर्श करे ताकूं प्राप्ति कहें हैं ॥ ५ ॥ और इच्छाको अनभिघात जेसं जलमें डूबे निकसि आवे तैसें पृथ्वीमें कदी दीखवे लग जानो कदी नहीं दीखनो ताकूं प्राकाम्य कहें हैं ॥ ६ ॥ और भूत भौतिक पदार्थनको जन्ममरणकी

मू० गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा ॥ पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य द-

क्षिणं ॥ प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥

यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः । कुलस्त्रियः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥ ९ ॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥ पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्श्विणस्तेन पादमूलेन वामपादपार्श्विणेत्यर्थः । योनिं योनिस्थानं गुदमंदूयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्श्विणना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्श्विणकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पव-

॥ भाषा ॥

रचना करवेमें समर्थ होय ताकूं ईशता कहें हैं ॥ ७ ॥ और भूत भौतादिकनकूं अपने आधीन करणो ताकूं वाशित्व सिद्धि कहें हैं ॥ ८ ॥ इनकूं देवेवारो हे और सिद्ध जो कपिलादिक तिनकूं प्रिय हे मरुत जे देवता तिनकूं वी दुर्लभ हे ॥ ८ ॥

यथेति ॥ जैसे रत्ननकी पेटीकूं गोप्य राखें हैं तैसेहि गोप्य राखे काहूंकूं कहे नहीं जैसे कुलकी स्त्री संगमकूं नहीं कहे हे तैसे येवी नहीं कहवेकूं योग्य हे ॥ ९ ॥

अब पहली महामुद्राकूं कहें हैं ॥ पादमूलेनेति ॥ वामपादकी एडीकरकें गुदा शिश्नईद्वी इनको मध्यम भाग जो योनिस्थान ताय रोककरकें जेमनो पाद फेलाय लंबो करदे पृथ्वीमे एडी लगाय अंगुली ऊंची दंड कीसीनाईकरकें अंगुठा तर्जनी कर दक्षिण यामको अंगुठा पकड धारण करे ॥ १० ॥

फिर कंठमें जालंधर बंध बांधकरकें फिर वायूकूं उपरि सुपुम्रामें धारण करे

मू० ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥  
 तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥  
 ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥  
 महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥  
 इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥  
 महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

नमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपी-  
 डनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन दतस्ताडितो दं-  
 डहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । दंडा-  
 कारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव । ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता  
 सरला भवेत् । तदासेति ॥ द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जाय-  
 ते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संवध्यते । वेगतस्तु वेगान्न रेच-  
 येत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात् । खल्विति वाक्यालंकारः । इयं महामुद्रा महा-  
 सिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महामुद्राया अन्वर्थमाह । महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मृतारागद्वेषा-

॥ भाषा ॥

या कर मूलबंधवी होय हे जहां योनिस्थानक पीडनकरके जिह्वा बंधनकरके मूलबंध  
 होय जाय जैसे सर्प दंडके प्रहारकरके दंडाकार त्याग कर सरल होजाय हे  
 तैसेही जाननो ॥ ११ ॥

तैसेही कुंडली जो आधारशक्ति सो शीघ्रही सरल होय और कुंडलीके बोधते ही  
 सुषुम्नामें प्रवेश प्राणको होय हे दोनोनक प्राणके वियोगते इडा पिंगला ये दोनो हे  
 आश्रय जाके एसी मरणावस्था होय हे ॥ १२ ॥

ता पीछे शनै शनै रेचन करे वायुकुं वेगते नही करे बलकी हानि होय हे याते ये  
 महामुद्रा आदिनाथादिक महासिद्धनने दिखाई हे ॥ १३ ॥

महाक्लेश अविद्या रागद्वेषादिक शोकमोहादिकनके दोष क्षीण होय हैं और

सू० महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥

यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

भिनिवेशाः पंच त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपाटिणं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपाटिणं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

॥ भाषा ॥

मरण जरादिक तेवी क्षीण होय यातें वडे वडे ज्ञानी याये महामुद्रा कहें हैं ॥ १४ ॥

या महामुद्राको अभ्यास क्रम कहें हैं ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रांग जो वामांग तामें अभ्यासकरके फिर सूर्यांग जो दक्षांग तामें अभ्यास करे और वामांगके अभ्यास करे पीछें जबताई वामांगमें कुम्भकके अभ्यासकी संख्या समान होय तावत् पर्यंत अभ्यास करे और जब संख्या समान होय जाय तापीछें महामुद्रा विसर्जन कर दे यामें ये क्रम हे वांये पामकी एढीकुं योनिस्थानमें लगायकर जेमने पामकुं लंबो फेलाय वाके अंगूठाकुं तर्जनी अंगुली अंगूठासुं पकडकरके अभ्यास करे ताकुं वामांगमें अभ्यास कहें हैं या अभ्यासमें पून्यो जो वायू सो वामांगमें स्थित रहे हे और फिर जेमने पामकुं समेट वाकी एढीकुं योनिस्थानमें लगायकरके वांयो पाम लंबोकर वाके अंगूठाकुं आकुंचित तर्जनी अंगूठासुं पकडकर अभ्यासकरे ताकुं दक्षिणांगमें अभ्यास कहें हैं या अभ्यासमें पून्यो हुयो जो वायू सो दक्षांगमेंही रहे है ॥ १५ ॥

मू० नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजोर्णपुरोगमाः ॥

तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः ॥ नहीति ॥ ह्रियस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कटु-म्लादयो जीर्यत इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसाः निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यते । घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवा-मृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगवि-शेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्व-रादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह ॥ कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा क-

॥ भाषा ॥

महामुद्राके गुण कहें हैं ॥ नहीति ॥ महामुद्राके अभ्यासी कुपथ्य अपथ्यको विचार नहीं ताते संपूर्ण रस कटु अम्लादिक जो भोजन करे सोई जीर्ण होय जाय और रस जाको सूक गयो होय एक दो दिनको होय पदार्थ सो जीर्ण होय जाय और दुर्जर होय घोर विष भोजन कियो होय सोवी अमृत कीसी नाई जी-र्ण होय ॥ १६ ॥

जो पुरुष महामुद्राकूं अभ्यास करे ताकूं क्षयरोग कोढ गुदावर्त गुल्मरोग अ-जीर्ण ये हैं अग्रमें जिनकें ऐसे ज्वरादिक प्रमेह उदररोग ऐसे ऐसे रोगदोष नाशकूं प्राप्त होय ॥ १७ ॥

कथितेति ॥ अभ्यासके करवेवाले मनुष्यनकूं महान् सिद्धी आनिमादिक ति-नकी करवेवाली ये महामुद्रा में कही हे ये गोप राखनो योग्य हे जाकाऊ अन-धिकारीकूं नहीं देनो योग्य हे ॥ १८ ॥

मू० पार्श्विण वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥ वामोरु-  
परि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥ इति महाबंधः ॥  
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥  
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥  
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥  
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

थितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चा-  
णिमाद्यास्तासां करी कर्त्तव्यं । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोप-  
नार्हा यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये पृष्ठी । न देया दातुं  
योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

महाबंधमाह ॥ पार्श्विमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्श्विण गुल्फयो-  
रधोभागं । तद्वन्धी गुल्फौ पुमान् पार्श्विणस्तयोरध इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमे-  
द्वयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं  
चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य  
गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेद्वयोरंतरालमाकुंच्य ।  
अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं  
मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंद-

॥ भाषा ॥

अब दूसरी महाबंध मुद्रा कहे हे ॥ पार्श्विमिति ॥ बांये पामकी एढी योनि-  
स्थानमें लगायके फिर बांये पामको ऊरु ताके उपरि जेमनो पाम धरकरकें ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ता पीछें वायुकूं पूरकरकें फिर हृदयमें ढोढी दृढ लगायकरकें  
ये जालंधरबंध कह्यो और वा एढीकरकें योनिस्थानकूं नेंक दावकें याकरकें  
मूलबंध कह्यो मनकूं मध्यनाडीमें प्रवर्त करे ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ यथाशक्ति कुंभककरकें फिर मंद मंद वायुकूं रेचक करे फेर  
वामांगमें आवर्तनकरकें फिर दक्षिणांगमें जितनें तुल्य संख्या होय तितनें अभ्यास  
करे ॥ २१ ॥

मू० मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥

राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्व गतिनिरोधकः ॥

अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यमेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह ॥ मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतं । किंतुदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो दंतराजानो राजदंतो राजदंतेषु तिष्ठंतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन वध्नाति हि शिराजालमिति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितं । महाबंधस्य फलमाह ॥ अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वायुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने

॥ भाषा ॥

मतमिति ॥ कोई आचार्यनको मत ये हे कहा जालंधर बंधमें कंठको बंध ताय विशेष कर वाजित करे अर्थात् ढोढीकूं हृदय पे स्थापित नही करनो क्यों राजदंत जो अग्रदंत सामनेई दो दांत हैं तिनकूं राजदंत कहें हैं राजदंतमें स्थित जो जिह्वा तामें बंध दांतनके ऊपर जिह्वाकूं लगानो ये प्रशस्त हे ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ ये जो जिह्वाबंध हे सो सुषुम्नानाडीरहित जे संपूर्ण बहत्तर हजार नाडी तिनके ऊपर वायुकी गतीको निरोध करे हे याकरकें नसा जालबंध जाय हे तातें ही जालंधर बंध कहें हे अब याको फल कहें हैं ये महाबंध महासिद्धी देवे हे ॥ २३ ॥

और मृत्युकी पाशकरकें जो बंधन ताकूं दूर करवेमें निपुण इडा पिंगलामुषुम्ना



मू० त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥

महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥ महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमे-

कधीः ॥ वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्र-  
यागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारभ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्नातं  
प्रापयेत् । गतिबुद्धीत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वं ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षतावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो  
गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तं । मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवांतरं ।  
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यत इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती  
पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महा-  
वेधेन । विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य  
लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थवित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः  
एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायो-  
ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तथा जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमू-

॥ भाषा ॥

इन तीनो नदीनको संगम ताय धारण करे हैं और मनकूं केदार जो भ्रुकुटीनके बीचमें  
शिवस्थान ताय प्राप्त करे हे ॥ २४ ॥

रूपेति ॥ रूप लावण्य कांति गुण इन शोभानकर युक्त स्त्री होय युवान होय वो  
जैसें भर्तार विना निष्फल तेसेंही महामुद्रा महाबंध ये दोनो महावेधकर रहित होंय  
तों निष्फल हैं कहा व्यर्थ हैं ॥ २५ ॥

अब तीसरी महावेध मुद्रा कहें हैं ॥ महावेधेति ॥ महावेध मुद्रामें स्थित एकाग्रहे  
बुद्धि जाकी एसो योगी नासिकाके पुटकरकें पूरककरकें कंठमें मुद्रा जो जालं-  
धर मुद्रा ताकरकें वायुकी ऊपर नीचे गमन रूप जो गती ताय रोक कुंभ-  
ककरकें ॥ २६ ॥

मू० समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

धर्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्त्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावित्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्श्विणना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडा पिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययं । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाधा-

॥ भाषा ॥

समहस्तेति ॥ पृथ्वीमें लगर हे हैं तलुआ जिनके ऐसे दोनो हाथ समान धरकरकें फिर योनिस्थानमें लगर ही हे एही जाकी ता पामकर सहित दोनो हाथके सहारे कछूक उठकरकें फिर मंद नंद ताडन करे भूमिमें इडा पिंगला दोनो-नकूं उल्लंघनकरकें सुषुम्नाके मध्यमें वायु प्राप्त होय ॥ २७ ॥

सोम सूर्य आग्नि इनमें अधिष्ठित नाडी इडा पिंगला सुषुम्ना तिनको संबंध मोक्षके अर्थ होय हे निश्चय ता प्राण वियोगकी अवस्था मृतावस्था उत्पन्न होय हे अर्थात् मरोसो होजाय ता पीछें वायुकूं नासिका पुटनकरकें शनै शनै रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ ये जो महावेध हे सो अभ्यास करे तें महासिद्धी जो अणि-

सू० वलीपलीतवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

एतन्नयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥

वन्धितृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥

पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

स्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्थकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपन्नः । अतएव साधकेष्वभ्यासिपू-  
त्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतन्नयं महामुद्रादिन्नयं  
महागुह्यमतिरहस्यं । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि द्वियस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्च-  
रमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वन्धेर्जाठरस्य तृद्धिर्दोषिस्तस्याः करं कर्तुं  
अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमा-  
दिगुणप्रदं । चकार आरोग्यविंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अथैतन्नयस्य पृथक् साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे  
यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनं । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दो-  
ऽवधारणे । एतन्नयमित्यत्रापि संवध्यते । कीदृशं पुण्यसंभारः समुदस्तस्य  
संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य  
भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनं ॥

॥ भाषा ॥

मादिक तिनकूं देवेमें समर्थ हे और वली पलित कंप अर्थात् बुढो होय जाके  
देहमें त्रिवलीसी पडे जाकूं वली कहे हैं और बुढापे कर केश सुपेद होय जाय  
ताकूं पलित कहें हैं और बुढापेसूं देह कांपन लगे तासूं कंप कहें हैं इन तीनोनकूं  
नाश करे हे यातें अभ्यासी नमें जे उत्तम हैं तिनकरकें अभ्यास करिये हे ॥ २९ ॥

एतदिति ॥ ये महामुद्राकूं आदिले तीन मुद्रा महा गोप्य हैं और बुढापेकूं मृत्युकूं  
विशेष दूर करे हे और जाठराग्रीकूं बृद्धी करे हे अणिमादिक सिद्धीकूं देवे हे आरोग्यता  
विंदूको जय ये सब देवेवारो हे ॥ ३० ॥

अष्टधेति ॥ एक दिनमें आठ प्रहर होंय हे सो नित्य प्रहर प्रहरमें आठ करे और

मू० सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ॥ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीत-

गा ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥

सा यावद्भूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युत्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यं ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं ॥ ३२ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तदोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात्तावत् । कियत् । यावत्सा कला भूमध्यं वहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

॥ भाषा ॥

पुण्यके समूहकूं वढावे हे फिर पापनको ओघ समूह ताकूं वज्जकीसीनाई नाशको करवेवारो हे शिक्षावान पुरुषनकूं या प्रकार दिन दिनमें प्रहर प्रहरमें आठ प्रकार यारीती कर पूर्व साधन अल्प अल्पही करनो योग्य हे ॥ ३१ ॥

अब खेचरी चौथी मुद्रा कहें हैं ॥ कपालेति ॥ कपालमें जो छिद्र तामें विपरीत जिह्वा प्रवेश करे और भृकुटीके मध्यमें नेत्रनकरकें देखनो ये खेचरी मुद्रा है ॥ ३२ ॥

अब खेचरीकी सिद्धीको लक्षण कहें हैं ॥ छेदनेति ॥ छेदन अगाडी कहेंगे और चालन हस्तके अंगूठा तर्जनी कर जिह्वाकूं पकडकरके हलानो सो चालन और दोनो हाथके अंगूठा तर्जनी कर गौके थनकूं दुहें हैं तेसैंही खेंच खेंचके जिह्वाकूं वढावे कहा लंबी करे कितनी जवतक वहार निकास भृकुटीके मध्यकूं स्पर्श करे तवताई वढावे तब खेचरीकी सिद्धी होय ॥ ३३ ॥

मू० स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥  
 समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥  
 ततः सैधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ॥  
 पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥  
 एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥  
 षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नु-  
 हीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदन-  
 साधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्र-  
 माणं रोममात्रं समुच्छिन्नेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्या-  
 हारः । मिश्रेयाप्यथ सिंहंडो वज्रसुकु स्त्री स्नुही गुडेत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं  
 हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं  
 सैधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयं । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिर-  
 पथ्याचूर्णं गृह्णन्ति । मूले सैधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । स-  
 प्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् ।  
 ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छे-

॥ भाषा ॥

अब खेचरीको साधन कहे हैं ॥ स्नुहीति ॥ थूहरके पत्रकी तुल्य अति तीक्ष्ण होय  
 सचिकण होय निर्मल होय एसो शस्त्र लेकरके जिवाहके नीचे नसकूं रोममात्र  
 छेदन करे ॥ ३४ ॥

छेदन करे पीछे लवण सेंधो और हरडे इनको चूर्णकरके छेदन कजि जे मलदेवे  
 सायंकाल प्रातःकाल दोनो समे योगीकूं लवणको निषेध हे यातें खदिर हरडे इन  
 दोनोनकूं पीसके मलदेवे सातदिन ताई फिर सातदिन पीछें आठमे दिन फिर  
 अधिक छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ या क्रमकरके फिर सात दिन लवण हरडे करघर्षण करे फिर आठमें

मू० कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥

सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥

विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

दनं घर्षणं चाअष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तथा बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह ॥ कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखामस्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यत इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

दिन अधिक छेदन करे ऐसे छै महीनापर्यंत नित्य युक्ती सुंकरे तो छै महीना पीछे जिह्वाकी मूलमें जो नाडी अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके संयोगकूं नहीं होय वेदे नाडीकरके बंध नाशकूं प्राप्त होय ॥ ३६ ॥

कलामिति ॥ जिह्वा तिरछीकरके तीनो नाडीनको मार्ग जो कपालको छिद्र तामें योजना करे ये खेचरी मुद्रा होय हे याहीकूं व्योमचक्र कहें हैं ॥ ३७ ॥

अब खेचरीके गुण कहें हैं ॥ रसनामिति ॥ तालुएके उपरि छिद्रमें जाय एसी जिह्वाकरके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थित रहे तो योगी सर्प वींछू इनकूं आदिलेक जो जंतू तिनके विषकर योगी छूट जाय और व्याधी मृत्यु और बुढापो ये हैं आदि जिनके ऐसे त्रिवली पलित इनकरके छूट जाय ॥ ३८ ॥

मू० न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥  
 न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥  
 पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥  
 बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥  
 चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥  
 तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥  
 खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥  
 न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरण-  
 वृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्छा चित्तस्य तमसाभिभूताव-  
 स्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे  
 तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्र-  
 सिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययं । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतरवर्त्यो-  
 म्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता ।  
 उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वाच्च  
 दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः ॥

॥ भाषा ॥

जो खेचरी मुद्राए जानै हे ताकै रोग मरण आलस्य निद्रा क्षुधा तृष्णा मूर्छा ये विशेष-  
 करकें नहीं होय ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ जो खेचरी मुद्राकूं जाने हे सो रोगकरकें नहीं पीडायमान होय  
 कर्मकरकें लिप्त नहीं होय कालकरकें बाधाकूं नहीं प्राप्त होय ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ अंतःकरण भ्रुकुटीके भीतर जो छिद्र तामें विचरे और जिह्वा भ्रुकुटीके  
 मध्यमे विचरे ताकरकें कपिलादिक सिद्धनकरकें ये खेचरी कहें हैं ॥ ४१ ॥

जा योगीनें तालुवेके उपरि जो छिद्र ताय खेचरी मुद्राकरकें ढक दियो तो स्त्रीकरकें

मू० चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥

व्रजत्यूर्ध्वं हतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥

मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालू तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितं । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितइति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुपुत्रामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृ-

॥ भाषा ॥

आलिंगन हो रह्यो ताको बिंदु नहीं स्खलित होय ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ और जो बिंदु स्खलित होय गयो जा कालमें योनिमंडलमें प्राप्त हुयो फिर वो योगी मेढ्रकूं आकुंचन जामें करे सो मुद्रा योनिमुद्रा । याकरकें वज्रोली मुद्रा दिखायदिनी बंध्यो हुयो और शक्तिकरकें खिच्यो हुयो सुपुत्रामार्गकरकें ऊपरकूं खेंच ले अर्थात् बिंदु स्थानकूं प्राप्त होय हे ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वेति ॥ तालूके ऊपरि छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिर होय जो तालूके ऊपर छिद्रमेंसूं पडे एसो जो चंद्रामृत भ्रुकुटीनके मध्यमें चंद्रमा रहे तामें तें अमृत स्ववे हे ता चंद्रामृतकूं पान करे योगवेत्ता सो मासको अर्द्ध जो पक्ष ताकरकें मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नहीं निश्चय हे ॥ ४४ ॥

और जा योगीको शरीर नित्य प्रतिचंद्रामृतकरकें पूर्ण होय ता योगीको शरीर तक्षक



मू० तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥

तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्त्ति च तैलयुक्तां वर्त्ति न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनं । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते । कृतार्थो पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणां ॥ ब्रह्मांडपुराणे । गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते । राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं । राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनं । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति किंपुनस्तत्परायणाः । अंत्योर्गं बहिर्योर्गं यो जानाति विशेषतः ।

॥ भाषा ॥

सर्पकरकेँ डस्यो हुयो ताकूं विष नही प्रभाव करे और दुःखवी नही होय ॥ ४५ ॥

नित्यमिति ॥ जेसेँ अग्नि काष्ठकूं नही छोडे हे और दीपक तेलसहित जो वत्ती ताय नही छोडे हे तेसेँही चंद्रामृतकरकेँ पूर्ण जो देह ताय जीव नही त्याग करे ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ जो योगी गोमांस नित्य प्रति भक्षण करे अमरवारुणीको नित्य पानकरे ता योगीकूं ग्रंथकर्ता कहें हैं में उत्तम कुलमें उत्पन्न हुयो मानुहूं और जो गोमांस भक्षण अमर वारुणी इनके भक्षण पान कररहित हे वो अयोगी हैं ते कुलके नाश करवे-

मू० गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥  
 गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥  
 जिह्वाप्रवेशसंभूतवन्हिनोत्पादितः खलु ॥  
 चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥  
 चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी सक्षारा

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्वैद्यस्तु किं पुनरिति । कूर्मपुराणे । एककालं द्विकालं वा-  
 त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वरा इति । इतरे वक्ष्यमाण-  
 गोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले  
 जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह ॥ गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेन शब्देन गोपदेने-  
 त्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमी-  
 पोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु  
 तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां सर्णस्तेयादीनां नाशनं ॥ ४८ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह ॥ जिह्वेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेश-  
 नं तस्मात्संभूतो यो वन्हिरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वन्हिशब्देनौ-  
 ष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अ-  
 मरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ यदि चेष्टंलंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशंती । अनिशं निरं-

॥ भाषा ॥

वाले हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुये तोहु उनको जन्म दृथा हैं ॥ ४७ ॥

गोमांस शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ गोशब्देनेति ॥ गोपदकरके यहां जिह्वा कही हे  
 तालुके समीपमें जो छिद्र तामें जिह्वाको प्रवेश ताकूं गोमांस भक्षण कहे हैं एसो जो  
 गोमांस भक्षण सो महा पातकनकूं नाश करे हे ॥ ४८ ॥

अमरवारुणी शब्दकोअर्थ कहे हैं ॥ जिह्वेति ॥ तालुवेके उपर छिद्रमें जिह्वाको  
 प्रवेश तातें हुयो जो अग्नि कहा ऊष्मा ताकरके उत्पन्न हुयो जो सार भृकुटीके भीतर  
 वाम भागमें स्थित जो चंद्रमा तातें स्रवे हे सो अमरवारुणी कहें हैं ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ जो तालुवेके उपर छिद्रकूं निरंतर स्पर्श करे और चंद्रामृतको स्वाव जामें

मू० कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥ व्या-  
धीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं तस्य  
स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ५० ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वस्थो रसनां  
नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥ उत्कल्लोलकलाजलं च  
विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्य्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी  
चिरं जीवति ॥ ५१ ॥

॥ टीका ॥

तरं। अतएव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीतिरसस्पंदिनी  
यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचा-  
फलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा ।  
तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया  
अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तं । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया  
वृद्धावस्थाया अंतकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वामिमुखागमनं तस्यो-  
दीरणं निवारणं । अष्टौ गुणा आण्णिमादयस्ते अस्य संजाता इषष्टगुणितममरत्व-  
ममरभावः सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामा-  
र्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । उर्ध्वमुत्तान-

॥ भाषा ॥

होय एसी जिह्वा और लवण सहित मरिचादि चिंचा फलादि दुग्ध इन कर समान  
मधु सहत घी इनकर समान अर्थात् जिह्वामें मूलछेदनके पीछें ऐसे ऐसे स्वाद अमृतके  
स्त्राव ग्रहणतें स्वभावतें ही होंय तब वा योगीकूं रोगनको दूर होनो वृद्धावस्थाको नाश  
और शस्त्रनको अपने सन्मुख आगमन तिनकूं निवारण करणो आठोंसिद्धीनको प्राप्त होनो  
और देव भाव होनो सिद्धांगनानको आकर्षण करनो इतनी शक्ति होय जाय ॥ ५०

मूर्ध्न इति ॥ जिह्वाकूं कपालके छिद्रमें लगायकरकें फिर ऊंचो मुखकरकें यामें विप-  
रीत करणी दिखाय दीनी कुंडलिनीकूं ध्यान करत साधनभूत प्राण तातें मृकुटीके मध्यमें  
द्विदल कमलमें तें नीचें कंठमें वर्तमान षोडश दल कमल तामें पडो हठयोगतें प्राप्त हुयो  
निर्मल धारामय तरंग सहित चंद्रामृत रस ताय जो पुरुष पीवे सो योगी ज्वरादिक

मू० यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धोत्तरस्थं तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति  
सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्यु-  
नराणां तद्वद्गोयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ५२ ॥

॥ टीका ॥

मास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं  
चिंतयन् ध्यायन् सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोड-  
शपत्रं तच्च तत्पत्रं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं-  
विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः  
पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन्  
यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं विस-  
मिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं  
जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा  
योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयेति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये  
तिष्ठतीति मेरुमूर्धोत्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च  
तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्निवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामर्नाभिभूतसत्त्वा धीर्बु-  
द्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा  
व्यवस्थित इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-

॥ भाषा ॥

व्याधीकर रहित होय और केलाके गावेको सो कोमल देह जाको एसो होय दीर्घ  
काल ताई जीवे ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयेति ॥ मेरु पर्वत कीसी नाई संपूर्णतें ऊंची सुषुम्ना ताके उपरिभागमें  
स्थित जो चंद्रामृतरूप जल सो हे स्थित जामें एसो छिद्र तामें सतोगुणी हे बुद्धी  
जाकी सो आत्मतत्त्व कहें हे और गंगा यमुना सरस्वती नर्मदा जो इडा पिंगला सुषुम्ना  
गांधारीकू आदिले जो नाडी तिनकूं ता विवरमें अग्रपनो हे सो चंद्रमंडलतें शरीरको सार  
स्रवे हे ता चंद्रामृतके स्वावकरके मनुष्यनकी मृत्यु होय हे यातें प्रथम कहाए हैं सुकरण  
नाम खेचरी मुद्रा ताय बांधे या खेचरीके बांधे तें चंद्रामृत नही स्रवे तव मृत्यु नही  
होय जो खेचरी मुद्राको अभाव कहा नहीं बांधे तो देहकी सिद्धीरूप लावण्य बल  
वज्रकीसी नाई दृढ़ होनो ये नहीं होय ॥ ५२ ॥

मू० सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम् ॥

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥

एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

॥ टीका ॥

मित्युक्तं । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगला-  
सुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्निवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्रपुपः  
शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं  
भवति । अतोहेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् ।  
सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः । अन्यथा सुकरणबन्ध-  
नाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतं ।  
सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्का-  
रजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं  
यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभ-  
वति । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चेत्यात्मनेपदं ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं । तदुक्तं माण्डूक्यो-  
पनिषदि । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब  
आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् ।  
उन्मन्यवस्थैका मुख्या । एके मुख्यान्यकेवला इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मु-  
द्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

॥ भाषा ॥

सुषिरमिति ॥ पांच जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारी हस्तिजिह्वा इन पांच  
नाडीनको प्रवाह उपर है ये ऊपरकूं वहे हैं सो इनके प्रवाह कर संयुक्त और आत्मा-  
कूं साक्षात्कार प्रगटकरे ऐसो विवर हे सो अविद्या और अविद्याके कार्य शोक मोहादिक  
ये जातें दूर होय पोलरूप जो विवर तामें खेचरी मुद्रा स्थिर होय ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिरूप बीज प्रणव नाम एकही हैं सब बीजनमें मुख्य हे और सर्व  
देवतानमें देव भगवान् मुख्य हैं जैसे मनोन्मनी अवस्था मुख्य हे तैसेही मुद्रानमें  
खेचरी मुद्रा मुख्य हे ॥ ५४ ॥

मू० अथोड्डीयानबंधः ॥ बद्धो येन सुपुन्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥

उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥

उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमार्तगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥ बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतो-  
र्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुपुन्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुपुन्नां विहायसा ग-  
च्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स  
उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्सोदाहृतः कथितः । सुपुन्नायामुड्डीयतेऽनेन  
बद्धः प्राण इत्युड्डीयनं । उत्पूर्वाड्डीं विहायसा गतावित्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनमिति ॥ महान्नासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिम-  
त्वात् । यस्माद्बन्धादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुपुन्नायामित्य-  
ध्याहार्यं । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽ-  
भिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डीयानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरि-  
भागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ  
स्यातां तथा तानं ताननंनामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ ना-  
भेरूर्ध्वधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मा-  
तंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

॥ भाषा ॥

उड्डीयानबंधकूं कह्यो चाहें है सो प्रथम उड्डीयान शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ बद्ध इति ॥  
जा हेतुतें वा जा बंधनकरकें रुको हुयो वायु सुपुन्नामें मध्यनाडीकरकें उड जायकें सुपुन्ना  
आकाशमार्गकरकें गमन करे तातें ये बंध योगी मत्स्येन्द्रादिकनकरकें उड्डीयानबंध  
कह्यो हे ॥ ५५ ॥

उड्डीयानमिति ॥ महान् जो खग कोन प्राण सो जा बंधकरेतें श्रम जामें नहोय सुपुन्नामें  
होय पक्षीनकी गती करे वा बंधनकूं उड्डीयान नाम कहें हैं तामें बंधस्वरूप कह्यो हे ५६

उदर इति ॥ नाभिको उपरलो भाग नीचलो भाग इनकूं उदरमें पीठमें लग जाय एसो

मू० उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥  
 अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥  
 नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥  
 षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥  
 सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥  
 उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डियानं त्विति ॥ गुरुहितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डियानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनं । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डियानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डियानस्वरूपमुक्तं । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतं । उड्डियानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हियस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबंधे कृते विहंगमगत्या सुपुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् । समाधौ मोक्षमाप्नोतीति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

॥ भाषा ॥

पीछें कू खेंचे ये बंधन उड्डियान नाम हे केसो हे मृत्युरूपी हाथीकू सिंहकीसीनाई निवर्त करवेवारो हे ॥ ५७ ॥

उड्डियानं त्विति ॥ हितके उपदेशकर्त्ता गुरु ता गुरूकरकें सहजस्वभाव कह्यो हुयो उड्डियान ताय अभ्यास करे निरंतरतो वृद्ध पुरुषवी तरुण होय जाय ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभीको उपरिभाग नीचलो भाग यत्नतें पीठमें लगे एसो तान करे अर्थात् पीछेंकू खेंचे या उड्डियानकू छै महिनापर्यंत एसें अभ्यास करे वारंवार तो मृत्युकू जीतले यामें संदेह नहीं ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ संपूर्ण बंधननके मध्यमें उड्डियान बंधन उत्तम हे ये उड्डियान बंधन दृढ

मू० अथ मूलबंधः ॥ पार्श्विणभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्बुद्धम् ॥

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

गुदं पाष्ण्यां तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्वलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ पार्श्विणभागेनेति ॥ पार्श्वेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं यो-  
निस्थानं गुदमेद्वयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं वायुमाकुंचयेत्संकोच-  
येत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते ।  
पार्श्विणभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यते इत्यर्थः ६१

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वागतिर्यस्य तथा तमपानमपानवायु-  
माकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुपुत्रा-  
यामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययं । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूल-  
बंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अने न मूलब-  
ंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपीनरुक्त्यं ॥ ६२ ॥

अथ योगवीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ गुदमिति ॥ पाष्ण्यांगुल्फयोरधोभा-  
गेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

॥ भाषा ॥

होय जाय तो स्वभावसिद्धही मुक्ति होय उडियानके करेतें पक्षीनकीमी गतीकरकें  
सुपुत्रामें होय प्राणकूं मस्तकमें ले जायेतें समाधीमें मोक्ष होय हे या प्रकार स्वाभाविकी  
मुक्ति होय ॥ ६० ॥

अत्र मूलबंध कहें हैं ॥ पार्श्विणभागेनेति ॥ एहीकर योनिस्थानकूं दावकरकें गुदाकूं  
संकोचकरे फिर अपान जो वायू कोन नीचेकूं जाय जो वायू ताय ऊपर चढावे ये मूल-  
बंध कह्यो हे ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ नीचें गती जाकी एसो जो अपानवायु ताकूं मूलाधार संकोचक-  
रकें बलतें ऊर्ध्वगमन करे अर्थात् सुपुत्रामें प्राप्त करे योगाभ्यासी याकूं मूलबंधन कहें  
हैं मूलस्थानको बंधन जांम होय सो मूलबंध कहें हैं ॥ ६२ ॥

योगवीजमें कही जो रीती ताकरकें मूलबंध कहें हैं ॥ गुदमिति ॥ एहीकरकें



मू० वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥  
 प्राणापानौ नादविंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥  
 गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥  
 अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनः पुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्बुद्ध-  
 साकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वा-  
 धोगती वायु । नादोऽनाहतध्वनिः विंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय  
 योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन  
 इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे  
 कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति  
 ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य विंदुना सहैक्यं विंदुना धाय  
 मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

॥ भाषा ॥

गुदाकुं दावकरकें फिर जा प्रकार कर वायु सुषुम्नाके उपरिभागमें प्राप्त होय ता  
 प्रकार कर बलते वारंवार अपान वायुकुं गुदाकुं आकुंचनकरकें खेचे ये मूलबन्ध  
 हे ॥ ६३ ॥

अब मूलबंधके गुण कहें हैं ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राण अपान प्राणतो ऊर्ध्वगति वायु  
 और अपान अधोगती वायु और नाद कहा मेघकीसी ध्वनि और विंदु कहा अनुस्वार  
 ये च्यारों मूलबंधकरकें एकत्र होय योगकी सिद्धी ताय देवे यामें संदेह नही याको ये भाव  
 हे मूलबंध करते अपानवायु प्राणवायुकरकें सहित एक होय सुषुम्नामें प्रवेश करे  
 ताते नाद प्रगट होय ता नादकरकें सहित प्राण और अपान दोनो वायु हृदयके  
 ऊपर जाय नादकुं विंदुकरकें सहित ऐक्यकरकें मस्तकमें प्राप्त होय ताते योगसि-  
 द्धि होय हे ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ निरंतर मूलबंध मुद्रा करते अपान वायु और प्राणवायु

मू० युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमंडलम् ॥

तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥ ६६ ॥

ततो यातो वन्ध्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥

तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वगच्छतीत्यु-  
र्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वन्हिमंडले वन्हेर्मंडलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति ।  
तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं । त्रिकोणं तु मनु-  
ष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदां । मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्वीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा  
तन्वी सदा तिष्ठति पावके इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता  
सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वन्धिश्चापानश्च वन्ध्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स  
तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततो-  
ऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे  
जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपान-  
सोर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

॥ भाषा ॥

इनकूं ऐक्यता होय जाय हे तब संचय कियो हुयो मूत्र और पुरीष इनको पतन होय या  
मूलबंधके करतें वृद्धो पुरुष युवान होय जाय ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधन करतें अपानवायु ऊपर चलन लगे तब नाभितें नीचे त्रिको-  
ण हे वो अग्निको मंडल हे वामें अग्नी रहे हे वा अग्निमंडलमें अपानवायु जाय हे तब  
वायुकरकें मिली हुई जाठराग्निकी शिखा कोन ज्वाला बढ जाय हे ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ता पीछें अग्नि और अपानवायु ये दोनो उष्णस्वरूप जाको एसो प्राण-  
वायु तामें जाय हे ताकरकें देहमें होय एसो अग्नि अत्यंत अधिक दीप्त होय हे ॥ ६७ ॥

मू० तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥

दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडयंतरं व्रजेत् ॥

तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥

बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

॥ टीका ॥

तेनेति ॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन् काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ कंठमिति ॥ कंठे गले विलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः जरा वृद्धावस्था मृत्युर्भरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

॥ भाषा ॥

तेनेति ॥ ता अग्निको अत्यंत दीपनताकरके तापकूं प्राप्त हुई और सूती हुई जो कुंडलिनी शक्ति सो जाग उठै हे जैसें दंडके प्रहारकरके सूती सर्पिणी वडे वडे श्वास लेकर सूधी सरल होय जाय ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ तापीछें विलेमे प्रवेश कर जाय सर्पिणी ताकीसी नाई कुंडलिनी सुषुम्नामें प्रवेश कर जाय ता कारणतें योगाभ्यासीनकरके मूलबंध दिनदिन प्रति सर्वकालमें करना योग्य हे ॥ ६९ ॥

अब जालंधर बंध कहें हैं ॥ कंठमिति ॥ कंठकूं नीचो नमाय हृदयके च्यार अंगुल अंतरये ढोढी यत्न कर दृढ स्थिर स्थापन करे ये जालंधर नाम बंध हे ये कैसो हे वृद्धावस्था और मृत्यु इनकूं नाश करे हे ॥ ७० ॥

मू० बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥

ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ ह्रियस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समु-  
दायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं  
च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं  
दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो  
दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच  
आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे  
जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति ।  
वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ  
इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं

॥ भाषा ॥

अब जालंधर पदको अर्थ कहें हैं ॥ बध्नातीति ॥ नाडीनको जाल जो समूह ताय बांधे  
और नीचेकूं गमन करे एसो कपालको कुहर जो छिद्र ताको जल जो अमृत ताय बांधे  
तातें ये जालंधर बंध है जलनको समूह होय ताकूं जाल कहें हैं जाल जो नशनको जाल  
ताय धारन करे यातें जालंधर कहे है ये जालंधर बंध कंठमें जो दुःखनको समूह विकार-  
मात्र कंठकेकूं नाश करे है ॥ ७१ ॥

अब जालंधरके गुण कहे हैं ॥ जालंधर इति ॥ कंठके नीचै नमानो येही स्वरूप जाको  
एसो जालंधर बंध करे तब ऊपरसूं अमृत जाठराग्रीमें नही पड़े तब प्राणवायु नाडीके  
भीतर गमन कर प्रकोप नही करे ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढ कंठके संकोचनमात्रकरकें दोनो नाडी इडा पिंगला तिनै स्तं-  
भन करे ये जालंधर है कंठ स्थानमें स्थित विशुद्ध नाम चक्र हैं सो मध्यम चक्र जाननो

मू० मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥

इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसं-  
ख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकं । अंगुष्ठ-  
गुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ।  
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकं । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगि-  
पुंगवैः । तेष्वधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह ॥ मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधार-  
स्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् ।  
णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधनेत्यर्थः ।  
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदित्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्दम-  
येत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्य-  
भावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकं ।

॥ भाषा ॥

योग्य हे केसो हैं चक्र षोडश संख्या जिनकी ऐसे आधार अंगुष्ठकूं आदिले ब्रह्मरंध्र  
तक सोले हे सोलेनकूं गिनावे हे अंगुष्ठ गुल्फ जानू उरू सीवनी लिंग नाभि हृदय ग्रीवा  
कंठदेश लंबिका नासिका भ्रूमध्य ललाट मूर्धा ब्रह्मरंध्र ये सोले आधार योगीनमें श्रेष्ठ  
तिनकरकें कही है इन आधारमें धारणाको फलविशेष हैं सो गोरक्षसिद्धांतमें  
जान लेनो ॥ ७३ ॥

मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानकूं नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डियान बंध करे और जा-  
लंधर बंध कर इडा पिंगलाकूं बांधकरके अर्थात् कंठ नमाय दोनो नाडीनकूं स्तंभन करे  
फिर पश्चिममार्ग जो सुषुम्नामार्ग तामें प्राणवायुकूं प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ या विधानकरकें प्राणवायु स्थिर होय जाय अर्थात् वायुकी गति बंध होय

मू० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥

सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

यत्किञ्चित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥

तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन बलीपलिततंद्रालस्यादिकं ग्राह्यं ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकारादिसिद्धादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाया विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह ॥ यत्किञ्चिदिति ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्मादिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किञ्चिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः । वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यत इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रासनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

रंध्रमें स्थिति रहें ताकूं प्राणलय होनो कहें हैं ता प्राणके लयतें मृत्यु जरा रोग देहकी त्रिवली श्वेत बाल होनो भूछी आलस्यादिक ये नही होंय ॥ ७६ ॥

बंधत्रयमिति ॥ ये पहलें कहा ए जो तीन बंध सो श्रेष्ठ हैं मत्स्येन्द्रादिक महासिद्धनकर वासिष्ठादिक मुनीनकरकें सेवन करे गये और संपूर्ण हठके उपायनकी सिद्धीकूं प्रगट करवेवाले हैं या प्रकार गोरक्षकूं आदि लेकें जे सिद्ध हैं ते जाने हे ॥ ७७ ॥

यत्किञ्चिदिति ॥ तालूके मूलमें स्थित दिव्यरूप जाको एसो चंद्रमा तामे तें कहूक अमृत स्रवे हे वा अमृतकूं नाभिमें स्थित जो अग्निरूप सूर्य सो ग्रास करे हे ता सूर्यकूं अमृत ग्रास करे तें ये देह जरा जो वृद्धावस्था ताकर युक्त होंय हे ॥ ७७ ॥

मू० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरुर्ध्वं भानुरधः शशी ॥

करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्रारूपमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यं । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यं ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्व-  
नाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालो-  
र्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यामृ-  
तात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदा  
ऊर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदा तदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या  
विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधः ऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवा-  
क्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठ-

॥ भाषा ॥

तत्रेति ॥ या प्रकर्णमें नाभिमें स्थित जा अग्निरूपी सूर्यको मुख वंचाय जानो जाकरकें  
एसो दिव्य उत्तम जो करण मुद्रा अगाडी कहेंगे जो विपरीतकरणी मुद्रा हे सो  
गुरूनके उपदेशतें जानवेकूं योग्य हे ओर कोटिन शास्त्रनके अर्थनकर नही जानवेकूं  
समर्थ हे ॥ ७८ ॥

अव विपरीतकरणी मुद्रा कहें हैं ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ उपरि भागमें नाभि जाके और  
अधोभागमें तालुस्थान जाके ऐसे योगीके उपरि भागमें दहनरूप सूर्य होय हे और  
अधोभागमें अमृतरूपी चंद्रमा होय हे ये विपरीत नाम करणी हे ऊपर चंद्रमा नीचे  
सूर्य ताको ऊपर सूर्य नीचे चंद्रमा करनो ये गुरूनके वाक्यकरकें प्राप्त होय हे और  
प्रकार नही होय ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ याको नित्य अभ्यास करे ताकी जाठराग्निकूं वृद्धी करवेवाली विप-

मू० अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥

वलितं पलितं चैव पण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

राग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणं । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चपादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्देहत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधःऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥ अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किञ्चिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह ॥ वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । पण्णां मासानां समाहारः पण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव

॥ भाषा ॥

रीतकरणी है विपरीतकरणीके अभ्यास करवेवालेकूं भोजन वोहोत इच्छापूर्वक करनो योग्य हे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ जोविपरीतकरणी करवेवालो थोडो भोजन करे तो प्रज्वलित हुई जाठराग्नि देहकूं शीघ्र जराय दे अव क्रिया कहे हैं पृथ्वीमें मस्तक धरकरकें दोनो भुजा कटिमें प्रवेशकरकें ऊपर अंतरिक्षमें पामकरकें स्थित होय आरंभके प्रथम दिनतो क्षणमात्र रहे ॥ ८१ ॥

फिर दिन दिन प्रतिक्षणतें कछू अधिक दूसरे दिन दोक्षण तीसरे दिन तीन क्षण एसें दिनवृद्धीकर अभ्यास करे अव विपरीतकरणीके गुण कहें हैं याके करवेवालेके देहमें त्रिवली चर्ममें पडजाय सो और श्वेतकेश छै महीना पीछै नही दीखें जो



मू० अथ वज्रोली ॥ स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥

वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥

क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याम-  
मात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता  
भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितं । तदुक्तं विष्णुधर्मे । स्वदे-  
हारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल ऋणु तस्यापि लक्षणमिति  
विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तं । यथा प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मा-  
दपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अतएव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वे-  
च्छया देहत्याग उपपद्यत इति । भागवतेऽप्युक्तं । देहं जह्यात्समाधिनेति ॥ ८२ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी  
वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे  
योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया  
निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं  
पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह ॥ तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्पभासे वस्तुनोद्वयं वस्तुद्वयं

॥ भाषा ॥

विपरीतकरणी एसें अभ्यास करत करत एक प्रहर मात्रकरके लग जाय तत्र वो  
योगी मृत्युको जीतवेवारो होय जाय याकरके ये दिखायो योग प्रारब्धकर्मकू दूर करे  
हे जैसें प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानते प्रबल हे तैसेंही ता प्रारब्धकर्मते योगाभ्यास प्रबल हे  
उद्दालक और वीतहव्यादिक योगीनकू स्वेच्छाकरके देह त्याग कह्यो हे याते योग  
श्रेष्ठ हे ॥ ८२ ॥

अव वज्रोलीके आदिमे याको फल कहे हैं ॥ स्वेच्छयेति ॥ जो योगाभ्यासी वज्रोली  
मुद्राकू विशेषकर अपने अनुभव करके जानें सो योगी योगशास्त्रमें कहे जे ब्रह्म-  
चर्यादिक करे विना अपनी इच्छाकरके वर्तमान रहे अणिमादिक अष्टसिद्धीनके भोगवे-  
वारो होय ॥ ८३ ॥

तत्रेति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें दोय वस्तु कहे हैं जा काउ निर्धन पुरुषकू दुर्लभ हैं

सू० मेहनेन शनैः सम्यग्मूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥

पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥

शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । दुःस्यात्कष्टनिपेधयोरिति कोशात् ॥ किंतु वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥ एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिन्द्रियनैर्वल्यात्तद्वलार्थं क्षीरपानं युक्तं । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं विदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्रपूर्वकमूर्ध्वाकुंचन-मूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मंत्राकुंचनेन विदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह ॥ यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकार्दादिनिमित्तेन नालेन शनैः शनैर्मंदमंदं यथाग्नेर्धूमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मंत्राविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्र-

॥ भाषा ॥

एक तो दूध पीवेंके अर्थ स्त्री संगके पीछे इन्द्रिय निर्वल होय जाय हे याते दूध पान करनो योग हे द्वितीय वस्तु अपनै आज्ञाकारी वशवर्ति स्त्री ॥ ८४ ॥

अब वज्रोली मुद्रा को प्रकार कहें हैं ॥ मेहनेनेति ॥ स्त्रीसंगके पीछे विंदुको क्षरण कहा पडनो ताकूं पुरुष अथवा स्त्रीवी यत्नपूर्वक इंद्रीकूं ऊपर आकुंचनकरके वीर्यकूं ऊपरि खेंच लेवेंको अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्राकी सिद्धी प्राप्त होय ॥ ८५ ॥

अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वांग क्रिया कहें हे ॥ यत्नत इति ॥ चांदीकी वनी हुई नाल शनै शनै जैसे अग्रीके सिलगायवेंकूं फूक मारे तेसोही फूत्कार इंद्रीके छिद्रमें वायूको संचार बारंवार करे अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रिया कहें है सीसेकी वनी होय सचिकण होय इंद्रीमें प्रवेशके योग्य होय ऐसी चोथे अंगुलकी शलाका कराय-

मू० नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥

चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

क्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेंदूप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेंद्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्वयंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्रां । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशो मेंदूमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्वयंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखाम् कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्वयंगुलमात्रं वहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेंदूप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्वयंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेंद्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंदुाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोलीभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह ॥ नारीभग इति ॥ नारीभगे स्त्रीयो-

॥ भाषा ॥

करके ताकूं इंद्रिमें प्रवेश करवेको अभ्यास करे पहले दिन एक अंगुल प्रवेश करे दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे या रीतकर क्रमसुं वारेअंगुल मात्रा प्रवेश होय तव इंद्रियमार्ग शुद्ध होय वो चोघे अंगुलकी शलाका तामें दोय अंगुल टेढी ओर ऊंचो मुख जाको एसी करायले फिर वो द्वादश अंगुल भीतर प्रवेश करे और टेढी ऊंचो मुख जाको वो दो अंगुल वहार स्थापन करे ता पीछें सुनारकी अग्नी सिलगायवेकी नाल ताकीसदृश नाल ग्रहणकरके ता नालको अग्रभाग इंद्रिमें प्रवेश कियो जो द्वादशांगुलकी नाल ताको टेढी ऊंचे मुखकी वहार स्थित दो अंगुलकी नाल ताके मध्यमें प्रवेश करके फिर फूत्कार करे ताकरके भलि प्रकार इंद्रियमार्ग शुद्ध होय तापीछे इंद्रिसुं जलको उपर चढायवेको अभ्यास करे जब जलको आकर्षण होयवे लगजाय अच्छी तरहसुं तव पहले श्लोकमें कही जो रीती ताकरके वीर्यके आकर्षणको अभ्यास करे जब वीर्यको आकर्षण खेच लेनो सिद्ध होय जाय तव वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय है जाके खेचरी मुद्रा ओर प्राणजय ये दोनो सिद्धी जाकूं होंय ताकूं वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय औरकूं नही होय ॥ ८६ ॥

एसें वज्रोली मुद्राको अभ्यास सिद्ध होय जाय ताके अगाडीको साधन कहें हैं ॥ नारी-

मू० एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥

मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥

यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

नौ पततीतिपतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदो-  
राकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे  
पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत्स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत्  
स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन  
मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं  
संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्याभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं  
तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्काल-  
भयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

॥ भाषा ॥

भगे इति ॥ रतिकालमें स्त्रीकी योनिमें जानें पडचो और पडे नहीं जा पहलें जो बिंदु नाम  
वीर्य ताय वज्रोलीके अभ्यासकरके ऊपरि आकर्षण करे जो पडे पहलें बिंदुको आक-  
र्षण न होय तो नारीके भगमें गिरपडचो जो अपनो बिंदु ताय और स्त्रीको जो रत्न ताकुंवी  
उपर खेंचकर स्थापन करे ॥ ८७ ॥

अब वज्रोलीके गुण कहें हैं ॥ एवमिति ॥ या रीतकर जो बिंदुकुं स्थिर करे सो यो-  
गवेत्ता होय हे और वो मृत्युकुं जय करे और बिंदुजो वीर्य ताके पतनकरके तो मरण  
होय हे और जो वीर्यकुं यारीतसूं धारण करे तातें जीवन होय हे तातें बिंदुकुं या रीत-  
कर स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ वज्रोलीके अभ्यास करेवालेके देहमें वीर्यके धारणतें वोहोत सुंदर  
सुगंध प्रगट होय हे और जवताई बिंदु स्थिर रहे तवताई कालको भय नहीं होय ॥ ८९ ॥

मू० चित्तायतं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवितम् ॥  
 तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥  
 ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं विंदुं च रक्षयेत् ॥  
 मेंद्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यग्भ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥  
 सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥  
 जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायतमिति ॥ हियस्मानृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायतं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायतं शुक्रं स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं विंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यन्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः साऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं विंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥ मेंद्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्याभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेंद्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो विंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्या विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्वावप्रधानात्पंचम्यास्तासिः । सहजोलिमाह ॥ जलेऽपि ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव

॥ भाषा ॥

चित्तायतमिति ॥ निश्चय ही जो चित्त चलतायमान होय तो मनुष्यनको वीर्य चलजाय और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्यवी स्थिर होय चित्तके आधीन वीर्य है और शुक्र जो स्थिर होय तो जीवन स्थिर होय जो शुक्र नष्ट होय जाय तो मरण होय तो शुक्राधीन जीवन है ताते शुक्र और विंदु इने यत्नते अवश्य रक्षा करना योग्य है ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ ऋतुमती स्त्रीको रज और अपनो विंदु ताय सारीतमूं स्थिर करे इंद्रीकरके यत्नपूर्वक रज और विंदुकूं उपर आकर्षण करे सो वज्रोलीके अभ्यासयोगवेत्ता जाननो ॥ ९१ ॥

अब सहजोलि अमरोली कहें हैं ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोलीके भेदविशेष सह-

मू० वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥

आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥

अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥

निर्मत्सराणां सिध्येत न तुमत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्गन्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुप-  
विष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ  
तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभना-  
न्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटेनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनं ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्म-  
त्स्येन्द्रादिभिः। कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो  
योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । योगः संहननोपायध्यानसं-  
गतियुक्तिष्वित्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मो-  
क्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवतः सुकृतिनस्तेषां

॥ भाषा ॥

जोली अमरोली हे क्यों जो वज्रोलीके फल सोई इनके फल हैं यातें और गोबर जलाय-  
वाकी भस्म श्वेत होय हे सुंदर होय हे यातें वा भस्मकूं जल मिलायकरकें ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीके अर्थ मैथुनकरे पीछे आनंदपूर्वक वेठे क्षणमात्र रतिके उत्सवें  
त्यागकीनी हे रतिक्रिया जिनने ऐसे जो स्त्रीपुरुष तिनकूं सुंदर अंग जो मस्तक ललाट  
नेत्र हृदय स्कंध भुजादिकनमें लेपन करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ मत्स्येन्द्रादिक योगीनकरकें ये क्रिया सहजोली नाम कही हे ये  
श्रद्धाकरवेके योग्य हे और शुभकों करे हे और जो स्त्रीसंगकरकें युक्त हे तोवी ये योग  
मोक्षको देवेवारो हे ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ ये योग पुण्यवाननकूं धैर्यवाननकूं तत्त्वदर्शिनकूं दूसरेके गुण दोष-

सू० अथामरोली ॥ पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसार-  
तयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंड-  
मतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ॥

वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्-  
शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेपरहितानां । मत्स-  
रोऽन्यगुणद्वेष इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां  
मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या  
भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां  
विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किञ्चित्पूर्वा धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा  
निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निसारत्वेनांत्यधारा अंत्या  
चरमा या धारा तां विहाय किञ्चिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसा-  
रत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो  
योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं का-  
पालिकस्तस्मिन् कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति  
शेषः ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासे-

॥ भाषा ॥

कर रहित होय तिनकूं सिद्ध होय हे और दूसरेके गुण ऐश्वर्यादिककूं देख कर द्वेषादिक  
करे ओर जरोकरें तिनकूं नहीं होय ॥ ९५ ॥

अब अमरोली कहें हैं ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ शिवांबुके निर्गमन समयमें पित्तकरकें  
उत्कटभाव जाको एसी जो प्रथम धारा किञ्चित् उष्णता जामें ताय त्यागकरकें फिर  
नहीं हैं सार जामें एसी अंत्यधारा ताय त्यागकरकें फिर शीतल पित्तादिक दोषकरकें  
रहित जो मध्यधारा सो निरंतर सेवन करै योग हे अभिमत जाके एसी जो कापालिका  
क्रिया सोही अमरोलि या नामकर प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ जो पुरुष अमरी जो अमरवारुणी ताकूं नासिकाके अंतमें ग्रहण

मू० अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥

धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

पुंसो विंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥

यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

नामर्या प्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं मेहनेन शनैरिति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरी-पातामरी । नसपूर्विका वज्रोल्यामरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्याभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु शिरः कपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य सदिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्याद-वर्गंतव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्ता नार्यास्तदाह ॥ पुंसो विंदुमिति ॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य विंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो विंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणं ॥ ९९ ॥

॥ भाषा ॥

करत अमरीकूं पानकरे और दिन दिन प्रति वज्रोलीकूं अभ्यास करे सो कापालिककी अमरोली कही हैं ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अमरोलीके अभ्यासतें निकसी चंद्रमाकी सुधा ताय पहली कही जो भस्म तामें मिलापकरकें उत्तम अंग जो मस्तक नेत्र स्कंध हृदय भुजादिकनमें धारण करे तो भूत भविष्य वर्तमान देखेके योग्य दृष्टि जाकी एसो दिव्यदृष्टि होय जाय ॥ ९८ ॥

अव पुरुषकूं वज्रोली साधन कहकरकें अव स्त्रीकूं वज्रोली साधन कहे हैं ॥ पुंसो विंदु-मिति ॥ जो स्त्री अभ्यासकी चातुर्यतातें पुरुषके विंदुकूं खेचकरकें अपने रजकूं वज्रोली मुद्राकरकें रक्षा करे वा स्त्रीकूं योगिनी नाम योग हे विद्यमान जाके एसो योग-वती जाननो ॥ ९९ ॥



मू० तस्याः किञ्चिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥

तस्याः शरीरे नादश्च विंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

स विंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥

वज्रोत्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह ॥ तस्या इति ॥ तस्या वज्रोत्यभ्यासनशीला-  
या नार्या रजः किञ्चित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति प-  
तनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च विं-  
दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि विंदुभावं गच्छति । विंदुना  
सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ । वीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्रवं । अ-  
नयोर्वाहयोगेन सृष्टिः संजायते नृणां । यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते ।  
विंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा । अनयोः संगमादेव जायते परमं पदं ।  
स्वर्गदो मोक्षदो विंदुर्धर्मदो ऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्म-  
रूपत इति ॥ १०० ॥

विंदुरिति ॥ स पुंसो विंदुस्तद्रजो नार्यारजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रो-  
त्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रय-  
च्छतः दत्तः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें करीगई जो वज्रोली ताको फल कहें हैं ॥ तस्या इति ॥ वज्रोलीके अभ्या-  
समें शील स्वभाव जाको ता स्त्रीको रज कछूवी अल्पवी नष्ट पतन नहीं होय यामें संदेह  
नहीं ता स्त्रीके शरीरमें नाद विंदुभावकूं प्राप्त होय जाय मूलाधारतें उख्यो जो नाद सो  
हृदयके उपरि विंदुकरकें सहित ऐक्य होय हे पुरुषको वीज और स्त्रीको रज इनको  
वाहार योग होय ताकरकें तो मनुष्यनकें सृष्टि होय हे और जब अभ्याससूं भीतर रज  
विंदुको योग होय तब वाकूं योगी कहें हैं और विंदुतो चंद्रमय हे और रज सूर्यमय हे  
इनके संगमतें परम पद होय हे ये विंदुसंगम स्वर्ग मोक्ष धर्म इनको देवेवारो हे  
तेसैंही सूक्ष्मरूपकरकें विंदु रजके संगममें समग्र देवता स्थित रहें हैं ॥ १०० ॥

स विंदुरिति ॥ पुरुषको विंदु और स्त्रीको रज ये दोनो वज्रोलीके अभ्यासतें मिल-  
करकें अपने देहमें प्राप्त होय तो सर्व सिद्धी देवे हैं ॥ १ ॥

मू० रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥

अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्भुवम् ॥ २ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोत्यभ्यासयोगतः ॥

अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनं ॥ कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरी-

श्वरी ॥ कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् ।  
हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति  
जानाति भुवमिति निश्चितं खंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्मादेहस्य सिद्धि रूप-  
लावण्यवलवज्रसंहनत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोत्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृ-  
ष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्ति-  
दो मोक्षदः ॥ ३ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेद-  
नादिकं चाह सप्तभिः ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३  
शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एका-  
र्थवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ भाषा ॥

रक्षेदिति ॥ जो स्त्री योनिकुं संकोचन करेते उपरि स्थानमें लेजायकर रजकी रक्षा-  
करे योगशास्त्रमें बाकुं योगिनी कहें हैं और वो स्त्री भूत भविष्य वस्तुकुं जाने हे निश्चय  
ही और ख जो अंतरिक्ष तामें विचरे एसी होय ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोलीके अभ्यासकी युक्तीतें देहकी सिद्धी कोनसी रूप लावण्य  
वल वज्रको संहननभाव ताय प्राप्त होय ये वज्रोली अभ्यासरूपी योग सो पुण्यको  
करवेवालो हे फिर कैसो हे योग विषयभोगभोगे हेंतोवी ये मोक्षको देवेवारो हे ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनं कहें हैं ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ श-  
क्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ ये सात शब्द एक अर्थके वाचक हैं ॥ ४ ॥

मू० उद्धाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥  
 कुंडलीन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥  
 येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥  
 मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥  
 कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥  
 बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

उद्धाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्वलात्कपाटमररमुद्धाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति श्रुतेः ॥ ५ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं । तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति । मूढास्तदज्ञानाद्वद्धास्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादिसर्थः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

उद्धाटयेदिति ॥ जा प्रकारकर पुरुष बलते कूचीकरके किवाड खोले हे तेसें ही योगी हठाभ्यासते कुंडलिनी शक्तिकरके मोक्षको द्वार सुषुम्नामार्गं ताय भेदन करे ॥ ५ ॥

दुःखमात्रकरके रहित जो ब्रह्मरंध्र सो जा सुषुम्नाके मार्गकरके जायवेकू योग्य ता मार्गको द्वार कुंडलिनीको प्रवेश करवेको मार्ग हे ता मार्गके द्वारकू अपने मुखकर रोककरके परमेश्वरी कुंडलिनी सूती हुई स्थित हे ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुंडली शक्ति कंदके उपरिभागमें योगीनके मोक्षके अर्थ सूती और

मू० कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥

सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥

बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्रंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरिव्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकं ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

॥ भाषा ॥

मूढनके बंधनके अर्थ सूती हे योगी वा कुंडलिनीकूं चलायकरकें मुक्त होय हैं और मूढ पुरुष कुंडलिनीकूं जाने नहीं तातें बंधनमें स्थित रहें हैं ता कुंडलिनीकूं जो जाने हे सो योगवेत्ता जाननो क्यों संपूर्ण योगतंत्रनकूं कुंडलीको आश्रयपनो हे ॥ ७ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्ति सर्पकीसीनाई कुटिल हे आकार स्वरूप जाको एसी योगीनकरकें कही हे कुंडली जा पुरुषने चलायमान करी अर्थात् मूलाधारतें ऊपर प्राप्तकीनी सो मुक्त कहीये हे यामें संदेह नहीं ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगा यमुना जो इडा पिंगला इनके मध्यमें सुषुम्ना हे सो केसी हे तपस्विनी हे और बालरंडा हे सो ये बलात्कारकरकें कुंडलीकूं ग्रहण करे हे और विष्णु जो हरि व्यापक आत्मा ताको परमपद ताय प्राप्तकी करवेवाली ॥ ९ ॥

इडेति ॥ इडा जो वामश्वासा नाडी भगवती कहा ऐश्वर्यादिकनकर संपन्न हे

मू० पुच्छे प्रगृह्य भुजंगीं सुतामुद्धोधयेच्च ताम् ॥

निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥

प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुंडली सा बालरंडा बालरंडाशब्द-  
वाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुतां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलीनीं पुच्छे प्र-  
गृहीत्वोद्धोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वमुत्तिष्ठत इत्यन्वयः ।  
एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यं ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी  
सा कुंडली सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्र-  
गृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य या-  
मस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चाल-  
यितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोद्ध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति ॥

॥ भाषा ॥

वाकूं गंगा कहे हैं और पिंगला जो दक्षिणश्वासा ताकूं यमुना कहें हैं और इडा पिंग-  
लाके जो मध्यमें हे कुंडली सो बालरंडा हे ॥ ११० ॥

अव शक्तिचालन कहें हे ॥ पुच्छे इति ॥ सूती जो भुजंगी कोन कुंडलिनी ताय पूंछ  
पकडकर बोध करावे फिर वो कुंडलिनी निद्रा छोडकर हठते ऊपर स्थिर रहे हे ये  
रहस्य हे गुरुमुखते जाननो योग्य हे ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ मूलाधारमें स्थित फल हैं विद्यमान जाके भुजंगी सोई कुंडली सूर्यते  
पूरणकरके फिर परिधान युक्ती कर ग्रहणकरके सूर्यास्तसमयमें और सूर्योदयवेलामें नि-  
त्य प्रतिप्रहरको अर्धमात्र च्यार घडीमात्र च्यारोंमेर चलायवेकूं योग्य हे परिधानयुक्ति  
गुरुमुखते जाननो योग्य हे ॥ १२ ॥

कंदकूं पीडनकरके शक्तिचालन कह्यो चांय हैं सो आदौ कहिये प्रथम कंदको स्थान

मू० मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्वृद्धम् ॥

गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेंद्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । उर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरिति । याज्ञवल्क्यः । गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितं । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नांगुलं । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधं । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमिति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातं । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारं । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणं । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितं । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथौ तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । तद्वर्ती घुटिके गुल्फावित्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृहीयात् । चकाराद्वृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

॥ भाषा ॥

स्वरूपं ताव कहेँ हेँ ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानतें वितस्तिमात्र प्रमाण ऊपरि नाभि और मेंद्र इनके मध्यमें कंदको स्थान हे मनुष्यनके देहके मध्यमें नवांगुल कंदस्थात हे चयार अंगुल चोडो पक्षीके अंडाकोसो आकार और कोमल हे श्वेत हे वेष्टनकरके वस्त्राकोसो हे स्वरूप जाको ऐसो योगीनकरके कंदस्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासनकरके हस्तसूं एडीनके उपर टकनानमें पाम पकडकरके नाभिके नीचे कंदकूं पीडायमान करे ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासनमें स्थित जो योगी कुंडलीनीकूं चलायमानकरके अर्थात्

मू० कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥

मृत्युवक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥

ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुपुन्नायां समुद्रता ॥ १७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुपुन्नाया मुखं ध्रुवम् ॥

जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुपुन्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्पुद्गां कुर्यात् । वज्रामने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रामनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थं ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनमेव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुपुन्नायां समुद्रता सती किञ्चिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुपुन्नाया मुखं प्रवेश-

॥ भाषा ॥

शक्तिचालन मुद्राकरके ताके पीछें भस्त्रा नाम जो कुम्भक ताय करे या रीतकर कुंडली शक्तिकुं शीघ्र बोध करावे अर्थात् जगावे ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ नाभिदेशमें स्थित जो सूर्य ताकुं आकुंचन करे नाभिकुं आकुंचनकरके ही सूर्यको आकुंचन होय हे सूर्यके आकुंचनते कुंडली शक्तिकुं चलावे तो मृत्युके मुखमें प्राप्त हुयो जो पुरुष ताकुं कालभय नही होय ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ चार घडीपर्यंत निर्भय होय चालनते ये शक्ति सुपुन्नामें उठती सती कछुक ऊपरकुं खिचे हे ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ ऊपरकुं खिचवेकरके कुंडलीनी सुपुन्नाको अपनो प्रवेशको मार्ग ताय निश्चय

मू० तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखमुत्तामरुंधतीम् ॥

तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥

मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुपुम्नां व्रजति गच्छति । सुपुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुपुम्नां व्रजति तस्मत्सुखेन सुप्ता सुखमुत्ता तां सुखमुत्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं । न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं

॥ भाषा ॥

त्याग करे हे ता मार्गके त्यागते ये प्राणवायु आपसूं आपही सुपुम्नामें गमन करे हे १८

तस्मादिति ॥ तां सुखकरके सुती अरुंधती जो कुंडली ताय दिनदिनप्रति नित्य चलावे ता शक्तिके चलायवे मात्रकरके योगी रोग जो कास श्वास जरादिकनकरके छूट जाय ॥ १९ ॥

येनेति ॥ जा योगीकरके शक्ति कुंडली चालन करी जाय वो योगी आणिमादिक सिद्धीनको पात्र होय हे यामें बहोत प्रशंसाकरके कहा हे कालकूं सहजही जीतले अर्थात् तिरस्कार कर दे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येकि ॥ श्रोत्रादिक इंद्रानकरके सहित उपस्थ इंद्राको रोकनो तामें तत्पर होय नित्य हित करे पथ्य होय प्रमाणको चतुर्थांशकर वर्जित एसो भोजन करे कुंडली शक्ती



मू० कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥

एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥

कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशदिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते । नासादाक्षिणमार्गवादिपवनात्प्राणोऽतदीर्घाकृतश्चन्द्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवर्गान्द्वयशंभूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अधानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनं । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्रयं कुतः । नकुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यं ॥ २२ ॥

द्वासप्तती द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधने भवतीत्याभिप्रायः २३ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी मुपुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

॥ भाषा ॥

चालनको अभ्यास सोई हे योग जाके ता एसे योगीकूं चालीस दिनको मंडल ताके अनंतर प्राणायाम सिद्धी दीखे हे ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ शक्तिचालनकरकें ता पीछें भस्त्रानाम कुंभक करे नित्य या प्रकारकरकें अभ्यास कर रह्यो जो योगी ताकूं यमराजें भय नहीं होय योगीकूं देहत्याग करनो स्वाधीनपनो हे यातें ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ बहत्तर हज्जार नाडीनको मलशोधन कियो चाहें तो शक्तिचालनके अभ्यास विना मलशोधनको उपाय नहीं होय शक्तिचालनके अभ्यासकरकें ही संपूर्ण नाडीनको मलशोधन होय हे ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ योगीनकूं दृढ अभ्यासकरकें आसन प्राणायाम महामुद्रादिकनकरकें ये

मू० आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥

रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥

राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणधारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनः स्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां । निद्रापदमालस्योपलक्षणं । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शंभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ २५ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः । राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्त्रारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा

॥ भाषा ॥

मध्यमा नाडी सुपुम्ना सरल होय हे ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधि जो एकाग्रकरके मनकू अभ्यासमें धारणकरके गई हे निद्रा आलस्य जिनको तिनकू रुद्राणी मुद्रा जो कुंडली सो शुभ जो योगसिद्धी ताय देवे हे ॥ २५ ॥

राजयोगमिति ॥ राजयोग विना आसन नहीं शोभाकू प्राप्त होय हैं और राजयोग विना निशा जो कुंभक सो नहीं शोभे हे राजयोग विना चित्रविचित्र मुद्रा नहीं शोभे हे ॥ २६ ॥

मू० मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥  
 इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनोपिणा ॥ २७ ॥  
 इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥  
 एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥  
 उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥  
 स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रः । सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणाश्चिन्तविशेषः । विचित्राणि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्राणि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राणि न राजते ॥ २६ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ २७ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं मुष्णं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्याणिमादिप्रदात्री वा ॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः पुनान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

॥ भाषा ॥

मारुतस्येति ॥ मारुत जो वायु ताकी सर्वविधो कुम्भक मुद्रा विधान सो मनकरके युक्त अभ्यास करे बुद्धिमान पुरुषकरके प्राणायाम विधिते और विषयमें मनकी वृत्तिकी प्रवृत्ति नहीं करनो योग्य है ॥ २७ ॥

इतीति ॥ आदिनाथ सर्वेश्वर शंभुकरके दश मुद्रा कही हैं तिन मुद्रानमें एक एक मुद्रा योगीनकूं महासिद्धी जो आणिमादिक तिनकी देवेवारी हैं ॥ २८ ॥

उपदेशमिति ॥ जो पुरुष महामुद्रादिकनकी संप्रदाय जो योगीनकी गुरुपरंपराते उपदेश देवे सो पुरुष सर्वगुरुनते श्रेष्ठ स्वामी सोही साक्षात् प्रत्यक्ष ईश्वर है ॥ २९ ॥

मू० तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥

अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां  
मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स  
एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स  
एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरुर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविष-  
यकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् ।  
आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्ये-  
नावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसि-  
द्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायी मुद्राक-  
थनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

तस्येति ॥ मुद्रानको उपदेशकर्त्ता गुरुको वाक्य जो आसन कुंभकादिकनको करवेकी रीत  
योग्य आहार विहार चेष्टादिक विषयरूप जो वाक्य तामें तत्पर आदरवान् होयकरकें  
महामुद्रादिकनको अभ्यास तामें सावधान होय अणिमादिक सिद्धीनकरकें सहित काल  
जो मृत्यु ताको वंचन जो तिरणो सो प्राप्त होय ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाभाषाव्याख्यायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

मू० नमः शिवाय गुरवेनादविंदुकलात्मने ॥

निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥

मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तं । नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिण इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वार्थरामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रं । स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । नमः प्रवहीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादविंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणणं नादः । विंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादविंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादविंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति । नादानुसंधानसमाधिभाजमित्यादिना ॥ १ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते ॥ अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीम-

॥ भाषा ॥

प्रथम द्वितीय तृतीय जे उपदेश तिनमें कहे आसन कुंभक मुद्रा इनको फलभूत राजयोग ताय कह्यो चाहें ऐसे स्वात्माराम हैं सो विघ्नकी निवृत्तीके अर्थ शिवजी और गुरु इनमें अभेद जितायो जामें एसो गुरुनमस्काररूप मंगल आचरण करें हैं ॥ नमः शिवायेति ॥ सुखरूप ईश्वरतैं अभिन्न और गुरू कहिये उपदेशके देवकारे ऐसे शिवस्वरूप जो गुरू तिनके अर्थ नमस्कार हो केसे हैं शिवरूप गुरू घंटानादको सो शब्द जाको एसो नादविंदु जो अनुस्वार और कला नादको एकदेश ये हे आत्मा कहिये स्वरूप जाको और शिवस्वरूप गुरुनमें नित्यप्रति परायण जो पुरुष सो मायाकी उपाधिरहित शुद्ध योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य पद जो ब्रह्मपद ताय प्राप्त होय ॥ १ ॥

अथेति ॥ आसन कुंभक मुद्रा इनके कहेके अनंतर अब प्रत्याहारादिरूप समाधि-

## ॥ टीका ॥

स्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामी-  
त्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमं । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्र-  
कारेणूत्कृष्टं । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हन्ति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देह-  
त्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायं  
प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानन्दकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे-  
नात्यंतिकब्रह्मानन्दप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरं । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससं-  
स्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ । जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां  
विमुच्यत इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपाजीवन्मुक्तिर्भवति । परम-  
मुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतं ऽतः करणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावा-  
त्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसर्वासिद्धं । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि  
लीयन्ते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रति-  
प्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं  
मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरोपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्यैव  
स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनि-  
श्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य  
दधिभावस्तु तात्त्विक इति । दृष्टान्तवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण  
इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः ।  
जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्व-  
रूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

## ॥ भाषा ॥

क्रम ताव विवेचनाकरके कहूं हूं केसो हे समाधिक्रम श्री आदिनाथने कहे संपादन करे  
कोटिन समाधिके प्रकार तिनमें श्रेष्ठ हे फिर केसो हे समाधिक्रम मृत्यु जो काल ताकूं  
निवारण करे योगी समाधिके प्रभावंही अपनी इच्छापूर्वक देहत्याग करे हे और  
तत्त्वज्ञानको उदय मनकी वासनाको क्षय इनकरके जीवन्मुक्ति सुखको उपाय कहा प्राप्तीको  
साधन हे फिर केसो हे समाधिक्रम प्रारब्ध कर्मको क्षय होय फिर जीव और ब्रह्मको  
भेद दूर होय फिर आत्यंतिक ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिको करवेवारी हे ॥ २ ॥

मू० राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥

अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥

जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सलिले सैधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥

तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥

तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥

प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

समाधिपर्यायान्विशेषेणाह ॥ राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टं ॥ ३ ॥ ४ ॥

त्रिभिः समाधिमाह ॥ सलिल इति ॥ यद्वद्यथा सैधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरानुमनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

अब समाधिके पर्याय कहे हैं ॥ राजयोगेति ॥ राजयोग समाधि उन्मनी मनोन्मनी अमरत्वं लय शून्याशून्यपरंपद ॥ ३ ॥ अमनस्कं अद्वैत निरालंब निरंजन जीवन्मुक्ति सहजा तुर्या ये सब समाधिके ही वाचक हैं ये भेद आगे कहे हैं ॥ ४ ॥

सलिल इति ॥ जैसें सिंधुदेशमें हुयो सो सैधव लवण सो जलमें योगकरके जलकोई समान भाव होय जाय हे तेसेंही आत्मामें लगायो जो मन सो आत्माकी समान होय हे और आत्मा और मन इनके ऐक्य होनो ताकूं समाधि कहे हैं ॥ ५ ॥ जब प्राण क्षीण होय मनमें लीन होय तब अमरभावकूं प्राप्त होय ताकूंवी समाधि कहे हैं ॥ ६ ॥ और जीवात्मा और परमात्माको सम ऐक्य भाव होय हे तब नष्टहोय हैं सर्व संकल्प जाके ताकूं समाधि कहे हैं ॥ ७ ॥

मू० राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥  
 ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥  
 दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥  
 दुर्लभा सहजावस्था सदुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥  
 विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥  
 प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अथ राजयोगप्रशंसा ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति । न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तु-  
 मशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह । ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवे मुक्तिर्वि-  
 देहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरु-  
 वाक्येन गुरुवचसा लभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण पिप्पल्यववध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका  
 दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः । तत्त्वदर्शन-  
 मात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सदुरोः । दृष्टिः स्थिरा यस्य  
 विनैव दृश्यमिति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते दुर्लभा  
 लब्धुमशक्या दुः स्यात्कष्टनिपेधयोरिति कोशः । गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति  
 भावः ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्यैर्द्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुंभकैः ।  
 विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारकैः

॥ भाषा ॥

अब राजयोगकी प्रशंसा कहें हैं राजयोगस्येति ॥ राजयोगको माहात्म्य जो प्रभाव  
 ताय तत्वकरके कोई नहीं जाने हे ज्ञानमुक्ति स्थिति जो जीवन्मुक्ति और सिद्धी जो अ-  
 णिमादिक ये सब गुरूनके वाक्यकरके राजयोगमें प्राप्त होय हे ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ उत्तम गुरूनकी कृपाविना विषय त्याग भोगवेकी इच्छाको अभाव  
 दुर्लभ हे तत्त्वदर्शन आत्माको परोक्ष अनुभव दुर्लभ हे सहजावस्था जो तुर्यावस्था सोवी  
 दुर्लभ हे और गुरूकी कृपाकरके तो संपूर्ण सुलभ है ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ नानाप्रकारके आसन मत्स्यैर्द्रादिक और नानाप्रकारके कुंभक और



मू० उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥

योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥

सुषुम्णावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥

तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गत-  
निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापारा-  
भावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुंडलीबोधो यस्य तस्य सक्तानि परि-  
हृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्या-  
पारे सक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभि-  
र्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति । असंगो ह्ययं पुरुष इति श्रुतेरप-  
रिणाधी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकार-  
स्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्ना-  
तरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेदिति  
च श्रुतेः । सुषुम्नेति ॥ प्राणे वायौ सुषुम्णावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति

॥ भाषा ॥

नानाप्रकारकी महामुद्रादिक इनकरकें महाशक्ति जो कुंडलीनी सो जब जाग उठे हे  
तब प्राणवायु शून्य जो ब्रह्मरंध्र तामें लयकूं प्राप्त होय हे ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्न हुयो हे कुंडलीको बोध जिनके दूर किये हैं समग्र कर्म जाने ता  
योगीके आसनकरकें देहके व्यापार दूर होय जाय और प्राणेंद्रिय इनमें व्यापार स्थित  
रहे हे और प्रत्याहार धारणा ध्यान संप्रज्ञात समाधि इनकरकें मनके व्यापार दूर होय  
जाय तब बुद्धीमें व्यापार स्थित रहे हैं तब सत्त्वगुणरूपा बुद्धी होय हे वैराग्यकरकें दीर्घ  
काल संप्रज्ञातके अभ्यासकरकें बुद्धीके व्यापार दूर होय जाय तब निर्विकार स्वरूपमें  
स्थिति होय हे याकूं सहजावस्था केहें हे और याहीकूं तुर्यावस्था कहें हैं और या  
योगीकूं जीवन्मुक्ति अपने आप और यत्नकरे विनाई प्राप्त होय हे ॥ ११ ॥

सुषुम्नेति ॥ और जब प्राणवायु सुषुम्णा जो मध्यनाडी तामें चलन लगे हे तब अंतःकरण  
शून्य जो ब्रह्म तामें प्रवेश करजाय ता कालमें योगवेत्ता संपूर्ण जे प्रारब्धकर्म तिन्हें निर्मूल

मू० अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपिकालस्त्वया जितः ॥

पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥

तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्राणोऽपि जीवति मनो

॥ टीका ॥

मानसेऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविचित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि सप्रारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दात्तत्करोतीति णिच् ॥ १२ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति ॥ अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः । सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः इदं । वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतदृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्रक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तमरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समार्धिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह ॥ चित्त इति ॥ चित्तेऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायन्ते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यन्तीति भावः ॥ १४ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो

॥ भाषा ॥

करे हे ॥ १२ ॥

अब समाधिके अभ्यासकरके प्रारब्ध कर्मकूं तिरस्कार करे हे यातें जीत्यो हे काल जाने ता योगीकूं नमस्कार करें हैं ॥ अमरायेति ॥ जा कालके मुखमें थावर जंगम सहित संसार पड्यो हे वो काल जगतकूं भक्षण करे हे और काऊतें निवारण नही होय सो काल मृत्यु तुम योगीनकरकें तिरस्कार कियो गयो एसे अमरयोगी जो तुम ता तुम्हारे अर्थ नमस्कार हो ॥ १३ ॥

चित्त इति ॥ चित्तजो अंतःकरण सो आत्मामें समभावकूं प्राप्त होय जाय और प्राणवायु सुषुम्नामें चलेवे लगजाय तब अमरोली वज्रोली सहजोली प्रगट होंय हैं ॥ १४ ॥

हठाभ्यास विना ज्ञान मोक्ष नही सिद्ध होंय हे ये कहें हैं ॥ ज्ञानमिति ॥ इडा पिंग-

मू० ध्रियते न यावत् ॥ प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो  
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

जीवति । अपिशब्दादिन्द्रियाणि जीवन्ति न तु ध्रियन्ते । यावन्मनो न ध्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां बहने प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितं । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणैन्द्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे । नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हीति । नानामार्गैः सुखदुःखप्राप्यं कैवल्यं परमं पदं सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमिति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धं । तथाहि अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योग इति तद्दर्शनमात्मदर्शनं । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहातीति । श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद इति यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिं । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणां ॥ अप्रमत्तस्तदा भवतीति । यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वं विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः तद्देहिन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्मावहयेन प्रतरेत

॥ भाषा ॥

लान कर वायु चले ये प्राणको जीवन हे और इंद्रिय अपने अपने विषयनकूं ग्रहण करे ये इंद्रियनको जीवन हे और अनेक विषयनकी वृत्तीनकूं प्रगट करनो ये मनको जीवन हे तो जब ताई प्राण जीवे हैं इंद्रिय जीवे हैं जब ताई मन जीवे हे ये सब जब ताई मरं नही तब तलक ज्ञान जो आत्माको परोक्ष अनुभव नही होय और प्राण और मन इन दोनोनकूं जो योगी नाश करदे सो योगी मोक्षकूं प्राप्त होय और नही लीन हे प्राणजाको और नही लीन हे मन जाको वो पुरुष सो उपाय करकेवी मोक्षकूं नही प्राप्त होय ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

वद्वान् सोताऽसि सर्वाणि भयावहानीति । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानमित्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः । भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् । याज्ञवल्क्यस्मृतौ । इज्याचारदमार्हिसादानस्वाध्यायकर्मणां । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनं । महर्षिमातंगः । अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति । ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं । शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये । दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तं । स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीमुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जासंधो हि यथा घटमित्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योगमार्गे व्यासः । अपि वर्गावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिं । यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् । यदिवा धार्मिकः श्रेष्ठो यदिवा पापकृत्तमः । यदिवा पुरुषव्याघ्रो यदिवा कैव्यधारकः । नरः सेव्य महादुःखं जरामरणसागरं । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तत इति । भगवद्गीतायां । युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति । यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानमित्यादि चाआदित्यपुराणे । योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता । स्कंदपुराणे । आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगाश्विरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥ कूर्मपुराणे शिववाक्यं । अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभं । येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमंतमिवेश्वरं । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरं । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति । गरुडपुराणे । तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् । भवतापेन तप्तानां योगो हि परमोपथं । परावरप्रसक्ता धीर्यस्यनिर्वेदसंभवा । स च योगाग्निना दग्धसमस्तकेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तुपूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किञ्चिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतं । आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च । तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवं । विष्णुधर्मेणु । यज्ज्ञेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकं । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद । इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा । वासिष्ठे दुःसहा राम संसारविपवेगविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति । ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः

## ॥ टीका ॥

कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यं । तत्त्वमस्या-  
दिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षं । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुषघटादिप्रत्यक्षवदित्यनु-  
मानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेतुसिद्धिरिति वाच्यं ।  
अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतरूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि  
घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चै-  
तन्यस्याज्ञानविषयता तद्वदस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वं । तथा  
तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृ-  
त्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेतुसिद्धिः । न चाप्रयो-  
जकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । न त्विन्द्रियज-  
न्यत्वं मनस इन्द्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्या-  
भिन्नतयाभासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वं । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं  
परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावन्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं  
सर्पः किंतु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष  
एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः  
पूर्वमुत्पन्नं । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञा-  
ननिवर्तकत्वात् । किंच तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मा-  
त्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति  
चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतीन्द्रिय-  
त्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न-  
किंचित्प्रयोजकत्वमिति तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष  
इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिन्द्रियत्वं मनस इन्द्रियत्वे बाधका-  
भावादिन्द्रियाणां मनोनाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्या-  
दिवदिन्द्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिन्द्रियत्वं तत्त्वं च पटस्वखंडो-  
पाधिविशेष एव । अतएव कर्मेन्द्रियं तुषायादि मनोनेत्रादि धीन्द्रियमिति प्रत्यक्षं  
स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियमिति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपीन्द्रियाप्रमाणकज्ञान-  
स्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इन्द्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । इन्द्रियाणि दशैकं चेति  
गीतावचनं मनस इन्द्रियत्वे प्रमाणं । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दं ।  
शब्दजन्यत्वाद्यजेतेत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशब्दत्वसाधकेन  
सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकं । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमू-

॥ टीका ॥

लकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवं । अपि च मनननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नं । तत्र मतेपरोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिप्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवं । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्वैरवावकाशः । एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन मृत्युमुखात्मुमुच्यत इत्यंतेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः । इति यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्वैरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि । तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारः । तथात्रापि नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्चमनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोपनिषद्विन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरीक्षे मनआदीनां करणत्वसांगीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितं । शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते मनसैवानुदृष्टव्य मनसैवेदमाप्तव्यामित्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तं । दर्शनवृत्तिप्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ता श्रुतयो न विरुध्यन्त इति तदतीव विचारासहं । यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंकां

## ॥ टीका ॥

निवारयितुं मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि  
 स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समर्थो दूर्वावप्रकृष्टपदार्थज्ञानं  
 सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षं । तदानीं परोक्षसामर्थ्यभावात् । नापि स्मरणं तेषां  
 पूर्वविशिष्याननुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपं । अप्रसिद्धांतात् । नाप्य-  
 प्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं तेषामसन्निकर्षात् त-  
 स्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपन्हवमेवे-  
 ति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयन्ति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव ।  
 तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धं । न च कामिनी भा-  
 वयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्व-  
 प्रसंगः । अबाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु  
 बाधितविषयत्वादोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भाव-  
 नासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणा-  
 निपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षसालौकिकप्रत्यक्षेऽतर्भावः कृतः ।  
 योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं  
 पश्यन्ति । तथा च पातंजले सूत्रे । ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम-  
 न्यविषयाविशेषार्थत्वात्तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनु-  
 मननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विषयाः कुतः । विशेषा-  
 र्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं त-  
 स्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्का-  
 रेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र-  
 बादरायणकृतं भाष्यं । श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नद्यागमेन शक्यो  
 विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्दइत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानि-  
 ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति । योगबीजे । ज्ञानानिष्ठो  
 विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते  
 प्रिये । किंच । तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निपिक्तमस्येति श्रुतेः ।  
 कारणं गुणसंगोऽस्य सदस्योनिजन्ममु इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र  
 रागाद्युद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव  
 मरणसमये समुद्भूतवैकल्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे ।  
 देहावसानसमये चित्ते यदादिभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मका-



॥ टीका ॥

रणं । देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः । पिपीलिका यदा लघ्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी । योगिनां तु योगवलेनांतकालेऽप्यात्म-  
भावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरं । तदुक्तं भगवता । प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव इत्यादिना । शतं चैका हृदयस्य नाड्य इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे त-  
द्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्क्यं । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरो-  
क्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे । गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । देव्युवाच । ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।  
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच । देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्ता ज्ञानी पुनर्भवेत् । पश्चात्पु-  
ण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिं । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा । ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितं ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा ॥ न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ॥ सर्वे वदन्ति खड्गे-  
न जयो भवति तर्हि किं । विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञान-  
मोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि । जैगी-  
पव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो वि-  
शः । संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैल-  
वकादयः । मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि । ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगत इति ।  
किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति ।  
तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि । हिरण्यगर्भवसिष्ठना-  
रदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तदयोगिपरं । तदुक्तं गरुड-  
पुराणे । योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादृतः । योगस्य प्राप्तये तेषां



मू० ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥

स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिं दिवात्मकम् ॥

भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

शूद्रवैश्यादिकक्रमः । स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् । अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परं । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमालभेदिति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यन्त इति सिद्धं । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेवेत्यादि भगवद्वचनादित्यलं ॥ १५ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तं । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह ॥ ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने सुराज्ये धार्मिके देशे इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्नामध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखार्द्रादित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्ध्वावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे । अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यत इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनावधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह ॥ सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्या-

॥ भाषा ॥

ज्ञात्वेति ॥ सदा सर्वदा सुंदर राज्यहोय धर्मात्मा देश होय सुंदर स्थान होय तहां निवास करके फिर सुषुम्ना मध्यनाडीके सुंदर भेदन प्रकार गुरुमुखसे जानकरके प्राणवायुकुं मध्यनाडी सुषुम्नामें चलन लगे एसो करके फिर ब्रह्मरंध्रमें लय करदे प्राणको लय होतेंही मनकोवी लय होय हे ॥ १६ ॥

अब प्राणको लय होय तब कालकोवी जय होय हे ये कहें हैं ॥ सूर्याचंद्रमसावि-

सू० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥

सुपुत्रा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रमसौ । देवताद्वंद्वे चेत्यानङ्ग । रात्रिश्च दिवा च रात्रिदिवं । अचतुरेत्यादिना निपातितः । रात्रिदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिदिवात्मकस्तं रात्रिदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुपुत्रा सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्ब्रह्म रहस्यमुदाहृतं कथितं । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मनमस्ति । यदा सुपुत्रामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति तदा रात्रिदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं भोक्त्री सुपुत्रा कालस्येति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमार्धयोगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छारास्थिभिर्वद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिकासप्ततिः

॥ भाषा ॥

ति ॥ सूर्य चंद्रमा ये दोनो रात्रि दिवस रूप जो समय ताय करें हैं और सुपुत्रा जो सरस्वती सो सूर्य चंद्रमाकरके कियो गयो जो रात्रिदिवात्मक काल समय ताकूं नाशके करवे वाली हे ये गोप्य कह्यो हे याको भाव ये हे ढाई घड़ी सूर्यचले हे और ढाई घड़ी चंद्रस्वर चले जव सूर्य चले हे तबतो दिन कहे हैं और जव चंद्र चले हे तब रात्रि कहे हैं पांच घड़ीको रात्रिदिवात्मक काल होय हे लौकिक मनुष्यनको रात्रिदिनतामें द्वादशदिन रात्रिरूप काल होय हे एसे कालके प्रमाणकरके जीवनको आयु प्रमाण हे जव सुपुत्रामार्गकरके वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होय हे तब रात्रिदिवसात्मक कालको अभाव रहे हे यातेही सुपुत्रा कालकी नाशकर्ता कही जवताई ब्रह्मरंध्रमें वायु लीन होय तितने योगीकी आयु बढे और दीर्घकाल ताई समाधिको अभ्यास करवेवालो योगी पूर्वही मरणकाल जानकरके ब्रह्मरंध्रमें वायुकुं प्राप्तकरके कालकुं निवारण करे फिर देहत्याग अपनी इछासूं करे हैं ॥ १७ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजराकीसी नाई नसैकरके बंधो जो शरीर तामें बहत्तर हजार नाडीनके

मू० वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥

बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥

अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

॥ टीका ॥

द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः सन्ति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्धानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुंडलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

॥ भाषा ॥

द्वार वायुके प्रवेश मार्ग हे और सुषुम्ना शांभवी शक्ती हे भक्तनकुं शं जो सुख सो जातें होय सो शंभू ईश्वर ताकी ये शक्ती तासूं शांभवी नाम हे ध्यानकरकें शंभूकूं प्राप्त करे हे वा शंभूकूं प्रगट करे हे यातें शांभवी नाम हे और अथवा शं कहिये सुखरूप स्थित होय सो शंभू नाम आत्मा ताकी शक्ति ये चैतन्यकूं ध्यानकरकें ही आत्मसाक्षात्कार करे हे याते शांभवी नाम हे और जे इडा पिंगलादिक नाडीतें गयो हे प्रयोजन जिनको एसी निरर्थक हे ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ अभ्यास कियो जो वायु तातें जाठराग्निकरकें सहित कुंडली ये बोधकराय-करकें और काऊकरकें रुके नहीं ऐसे वायुकूं कुंडली सरस्वतीमें प्रवेश करे वायुकूं सुषुम्नामे प्रवेशके अर्थ अभ्यास करनो योग्य हे ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब मनोन्मनी उन्मनी अवस्था सिद्ध

मू० पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥

मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥

तयोर्विनष्ट एकस्मिन्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनः पवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किंतदित्याह । वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे । द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्यंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः । तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तं । यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति । न यावद्धाति विज्ञानं न तावच्चित्तसंशयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनं । यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः । यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः । तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च । मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः । त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः । तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः २२

॥ भाषा ॥

होय हे नही तो प्राण सुषुम्नामें नही वहे तो सुषुम्ना विना और जे अभ्यास हैं ते योगीनके श्रमके अर्थ हैं ॥ २० ॥

पवन इति ॥ जा योगीकरकें प्राणवायु बद्ध कियो जाय ता योगीकरकें मन बद्ध होय हे और जाकरकें मन बद्ध होय हे ताकरकें प्राणवायु बद्ध होय हे ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तकी प्रवृत्तिमें दोय कारण हे कोनसे एकतो वासना और एक प्राणवायु इन दोनोनमें सें एकवी क्षीण होय तो दोनोही नाशकूं प्राप्त होय ये भावहे वासनाको क्षय होय तो प्राण और चित्त दोनोही क्षीण होय और प्राण क्षीण होय तो चित्त और वासना ये दोनो क्षीण होय हैं और चित्त क्षीण होय तव प्राणवायु और वासना ये दोनो क्षीण होय हैं ॥ २२ ॥

मू० मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥

पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवत्संमिलिताबुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौहि ॥

यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥ अध्व-

स्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

॥ टीका ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ ताबुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मरुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः। तुल्यक्रियत्वमेवाह। यत इति। यतः यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः। यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति। यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। तदुक्तं वासिष्ठे। अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी। कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते। कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तममिति ॥ २४ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल-

॥ भाषा ॥

मन इति ॥ जा आधारमें मन लीन होय ताही आधार चक्रमें पवन लीन होय और जामें पवन लीन होय तामें मन लीन होय हे ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ और जल दुध कीसी नाई मिले हुये चित्त और प्राण ये दोनो समान हे प्रवृत्ति जिनकी एसे होंय हैं अब इनकी समान प्रवृत्ति कहें हैं जा चक्रमें वायु वर्त्ते हे तामें मनकी प्रवृत्ति होय हैं और जा चक्रमें मन वर्त्ते हे ता चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होय हे ॥ २४ ॥

तत्रेति ॥ मन और प्राणवायु इन दोनोनमेंसूं एकके लयतें दूसरोकी लय होय जाय एसेही एक मनकी अथवा पवनकी प्रवृत्ति होय तो दूसरेकी वी प्रवृत्ति होय जाय मन और पवन ये दोनो नही लीन होय तो इंद्रीनके समूहकूं अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति होय हे और मन प्राणवायु ये दोनो प्रकर्षकरकें लीन होय जाय तो मोक्षपदकी सिद्धी

मू० रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥

रसो बद्धो मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥

मूर्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥

बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७ ॥

॥ टीका ॥

यादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति । एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति । अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिन्द्रियवर्गवृत्तिरिन्द्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति । अध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव । योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य भावतः स्वभावाच्चंचलत्वं चांचल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तदेवाह ॥ मूर्छित इति ॥ ओषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्छितः कुंभकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्छित इत्युच्यते । हेपार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यं । मूर्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

होय अर्थात् इन दोनोनके लय होयवेसूं पुरुषकूं स्वरूपमें स्थिति होय है ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ पारेकूं और मनकूं स्वभावतेंही चंचलपनो हे और पारो बंध जाय और मन बद्ध हो जाय तो पृथ्वीतलमें वा प्राणीकूं सर्वसिद्धी होय हे ॥ २६ ॥

तदेवाह मूर्छित इति ॥ ओषधीके योगकरकें चपलता जाकी जाती रही एसो पारो सो मूर्छित वाजे हे और कुंभकके अंतमें रेचक करे ये वायु मूर्छित कहें हैं शिवजी कहें हैं हे पार्वती मूर्छित पारदकी भस्म रोगनकूं दूर करे हे और मूर्छित वायु फिर ब्रह्मरंध्रमें

मू० मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥  
 बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥  
 इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥  
 मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥  
 सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥  
 मनः प्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

तदुक्तं गोरक्षकशतके । यद्विन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं  
 पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारये-  
 देशे खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणेति ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्यं इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थै-  
 र्याद्विंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं  
 प्रजायते ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽंतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । म-  
 नोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः ।  
 स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सोऽयमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्य-  
 मते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनि-

॥ भाषा ॥

लीन हुयो मृतपुरुषकूं अपनी सामर्थ्यकरके दीर्घकाल ताई जिवावे हे और क्रियासूं  
 गुटिकाके आकारकरके बंधो हुयो पारो मोढेमें धारण करेसुं आकाश गती करे हे और  
 धारणकरके भृकुटीके मध्यमें धारण कियो और बंधो हुयो वायु आकाश गतीकूं  
 करे हे ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्यं इति ॥ मन स्थिर होय तो प्राण स्थिर होय हे और वायुके स्थिर  
 हुये ते वीर्य स्थिर होय हे वीर्य स्थिर होयवेसूं सर्वदा बल देह स्थिर होय हैं ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रिय जे श्रोत्रादिक तिनको अंतःकरण नाथ हे अर्थात् प्रवर्तको  
 करवेवालो हे और मनको नाथ प्राण हे और प्राणको नाथ लय और लय जोहे  
 सो नादकूं आश्रय करे हे अर्थात् नादमें मन लीन होय हे ॥ २९ ॥

सोयमिति ॥ नादमें चित्तको लय सोही मोक्ष हे और मतांतरमें एसो कहे हैं सुषुप्ती

मू० प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥

निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥

स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मु-  
क्तिमुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ य-  
स्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्वहिर्निस्सरणं  
निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन्  
निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एता-  
दृशो योगिनां लयोऽतःकरणवृत्तेर्ध्वयाकारावृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा  
निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवाव-  
गंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते  
योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

अवस्थामें चित्तको लय हे सोवी मोक्ष हे ताये कहे हैं ये मोक्ष नहीं हे क्योंकि मन  
प्राण इनको लय होय हे तब कोईमूंवी नहीं कहवेमें आवे एसो आनंद प्रवृत्त होय  
हे जब अनिर्वाच्य आनंद प्रगट होय हे तब जीवन्मुक्ती सुख होय हे यामे संदेह  
नहीं हे ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ दूर हुयो हे श्वास निश्वास जामें वहारकी वायुकूं भीतर खेचनो  
सो श्वास और भीतरकी वायुकूं वहार निकासनो सो निश्वास और दूर हुयो हे विषय-  
नकूं ग्रहण करनो जामे देहकी क्रिया जामे दूरहुई निर्विकार एसो योगीनको लय  
अंतःकरणकी वृत्तीकूं ब्रह्मप्राप्तीके अर्थ संपूर्णतें उत्कर्षकरकें वर्त्ते हे ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ नष्ट हुये हैं संपूर्ण संकल्प जामें निवृत्त हुइ हे संपूर्ण चेष्टा जामें  
और आपकरकें ही जानवेकूं समर्थ और वाणीसूं कहवेमे नहीं आवे एसो विलक्षण लय  
योगीनकूं प्रगट होय हे ॥ ३२ ॥



मू० यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतैर्द्रियसनातनी ॥

सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥

अपुनर्वासनोत्थानालयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥

एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिविद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदन्ति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह ॥ अपुनरिति ॥ अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिविषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि पदं पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेद्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ जा ब्रह्ममें अंतःकरणकी वृत्ती होय ता ब्रह्ममें लय होय हे और पंचमहाभूत और दशो इंद्रिय ये निरंतर जामें रहें एसी अविद्या और प्राणीनकी शक्ती विद्या ये दोनो योगीनकै ब्रह्ममें लय होय हे ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ बहोतसे जन याकूं लयो लय कहें हैं और लयको स्वरूप कहा हे सो कहें हैं फिर वासनाको उदय नहो तातें शब्दादिक विषयनकी विस्मृति होय ताकूं लय कहें हैं ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ च्यारों वेद और छै शास्त्र अठारे पुराण ये वेद्याकीसी नाई हे क्यों वोहोन पुरुषनकूं प्राप्त हैं यातें और शांभवी मुद्रा एकही हे ये कुलकी स्त्रीकीसीनाई गोप राखवेकूं योग्य हे ॥ ३५ ॥

मू० अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥

एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते दृष्ट्या निश्च-  
लतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥ मुद्रेयं खलु शांभवी  
भवति सा लब्धा प्रसादादुरोः शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति  
तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥ ३७ ॥

॥ टीका ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह ॥ अंत-  
र्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमं-  
तःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबन्धः । कीदृशी दृष्टिः निमेषो-  
न्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता  
रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा  
शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवमिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी  
वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता  
रक्षिता ॥ ३६ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः  
अनाहतपञ्चादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभि-

॥ भाषा ॥

अंतर्लक्ष्यमिति ॥ भीतर आधारसूं लेके ब्रह्मरंध्रपर्यंत जे चक्र तिनके मध्यमें अपुनकूं  
वांछित चक्र तामें जो लक्ष्य कोन ब्रह्म तामें अंतःकरणकी वृत्ति और देहमें बहार  
जो दृष्टि सो पलकनको खोलनो मूदनो तिनकरकें वर्जित दृष्टि होय सो ये शांभवी  
मुद्रा हे केसी हे ऋग्वेदकूं आदि ले वेदनमें और शास्त्रजो सांख्य पातंजलादिक  
तिनमें गुप्त हे ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्येति ॥ जब भीतर अनाहत चक्रादिकनमें जो लक्ष्य जो सगुण ईश्वरकी मूर्ति  
अथवा ब्रह्म तामें लीन हुयो हे मन और प्राण जाके एसो योगी स्थिर हे भीतरली  
दृष्टि जाकी एसी दृष्टिकरकें देहके बहार नीचो ऊंचो देखे हे तोहु बहारके  
विषयनकूं नही ग्रहण करे हे ये शांभवी मुद्रा हे सो ये गुरुनकी कृपासूं प्राप्त होय हे  
तब शांभवीमें प्रकाशमान पद और वास्तव वस्तु सो प्रतीतमें आवे हे ॥ ३७ ॥

मू० श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥

भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भवौ ॥

॥ टीका ॥

अमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्त-  
पवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा  
कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या वहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्व-  
न्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारः । इय-  
मुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसा-  
दात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्रप्ताचेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रा-  
यां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्याविलक्षणं  
ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्याविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्याविलक्षणं  
तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तं । अन्तर्लक्षमनन्यधीरविरतं  
पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी ॥ गुप्तेयं गिरि-  
शेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा  
। १ । ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो  
भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्ताः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चा-  
वस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां वहिर्दृष्ट्या  
बहिःस्थितिः खेचर्या भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेच-  
र्या भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजाती-  
यविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्त-  
लयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः नतु चित्तल-  
यानंदरूपफलांश इतिभावः ॥ ३८ ॥

उन्मनीमुद्रामाह ॥ तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे

॥ भाषा ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके अवस्था और धाम  
इनके भेदकरके रहित चैतन्य आनंदरूप आत्मा तामें चित्तको लय ताको आ-  
नंद होय हे ॥ ३८ ॥

उन्मनी मुद्रा कहें हे ॥ तारे इति ॥ दृष्टी नासिकाके अग्रमें युक्त करेमें प्रकाश-

मू० पूर्वयोगं मनोयुजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥

केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चंद्रार्काव-  
पि लीनतामुपनयन्निस्पंदभावेन यः ॥ ज्योतीरूपमशेष-

॥ टीका ॥

योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किञ्चित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं  
नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽन्तरिक्षबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं  
मनोऽतःकरणं युजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारक उन्मन्यवस्था-  
कारको भवति ॥ ३९ ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह ॥ केचिदिति ॥ केचिच्छास्त्रतंत्रादि-  
विदः आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्त्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालैर्जा-  
लवद्भ्रंशनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुत्थन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । तत्रासक्ता बध्यन्त इति  
भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मु-  
त्थन्ति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुत्थन्ति । तारयतीति  
तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानन्ति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानं-  
तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन

॥ भाषा ॥

मान तेज होय हे तामेंही दृष्टीकूं युक्तकरकें कलूक भृकुटीकूं ऊंची चढावे पहलें क-  
ह्यो अंतरर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग जामें एसो अंतःकरणकूं युक्त करे तो योगी क्षणमा-  
त्रमें उन्मनी अवस्था होय हे ॥ ३९ ॥

उन्मनी विना और तिरवेको उपाय नहीं हे ये कहें हैं ॥ केचिदिति ॥ जे को-  
ई शास्त्र तंत्रादिकनके वेत्ता हैं ते शास्त्र तंत्रादिकनके फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय  
हैं और जो कोई वेदके जानवेवारे हैं ते वेदमें कहे जे बहोतसे से फल तिनकरकें  
मोहकूं प्राप्त होय रहे न्यायशास्त्री हैं ते तर्ककरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे हैं और पू-  
र्व कही जो उन्मनीही तरणको उपाय ताय नहीं जाने हे ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ आधे खोले हैं नेत्र जाने और स्थिर हे मन जाको और नासि-

मू० बीजमखिलं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं  
वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ ४१ ॥

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥

सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

स अधोन्मीलितलोचनः अधोद्धाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यन्ते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वसिष्ठः । द्वादशांगुलपर्यन्ते नामाग्रे विमलेंऽवरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यत इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कार्येन्द्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्का चंद्रमूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन् कार्येन्द्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । मनो यत्र विलीयेतेत्यादिपूर्वाक्त-विशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तम-शेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कार्येन्द्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपं एति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यं । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं-वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह ॥ दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं

॥ भाषा ॥

काके अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जाने और कर्मेन्द्रिय और मन इनके निश्चल भावकरके चंद्रमा सूर्य ये लय करत योगी ज्योतीकीसीनाई अखिल विश्वकू प्रकाश करवेवालो संपूर्णको कारण पूर्णरूप अतिशयकर प्रकाशके करवेवालो स्वप्रकाश करवेवालो वास्तव वस्तुरूप योगीनकरके प्राप्त होयवेके योग्य संपूर्णतें उत्कृष्ट परंपद जो आत्म-स्वरूप ताय प्राप्त होय हे और वस्तु प्राप्त होय ताको कहनो कहा ॥ ४१ ॥

दिवानेति ॥ सूर्यस्वर चले तामें आत्माकू ध्यान नही करे और चंद्रस्वर चले तामें-वी आत्माकू ध्यान नही करे क्यों चंद्र सूर्य वायू चले तव स्थिर चित्त नही रहे हे तासूं सूर्य चंद्र ये दोनोनकूं रोककरके आत्माकूं सर्वकालमें ध्यान करे इनके रोकेतें सुषु-

मू० अथ खेचरी ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

॥ टीका ॥

सर्वकारणमात्मानं । एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनं । तदुक्तं वासिष्ठे । ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनं । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । चले वाते चलं चित्तमित्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्री निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगं आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधकृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तं । सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजापत इति ॥ ४२ ॥

खेचरीमाह ॥ सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन् स्थाने तस्मिन् प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चेत्यात्मनेपदं । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाडयोर्मध्ये यच्छून्यं खं कर्तुं अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिन् शून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

॥ भाषा ॥

मार्मे अंतर्गत प्राण होम हे तव मन स्थिर होय हे यार्ते ॥ ४२ ॥

अब खेचरीमुद्रा कहे हैं ॥ सव्येति ॥ वामदक्षिण नाडीनमें स्थित वायु जा भृकुटीके मध्यदेशमें गमन करें हे ताही स्थानमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडा पिंगलाके मध्यमें जो आकाश सो प्राणवायुकुं ग्रास करे हे शून्य जो आकाश तामें प्राणवायु स्थिर होय हे ताकुं ही ग्रास कहे हैं ता शून्यमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे ये सत्य हे ॥ ४४ ॥

मू० सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निराळंवांतरं पुनः ॥

संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिवबलभा ॥

पूरयेदतुलां दिव्यां सुपुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥

अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निराळंवं यदंतरमवकाश-  
स्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भूमध्ये सर्वखानां समन्व-  
यात् । तदुक्तं पंचस्रोतः समन्वित इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ सोमाचंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्या धाराऽमृतधारा उदितोद्गता सा खे-  
चरी साक्षाच्छिवबलभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां  
दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुपुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुपुम्नां प्राणेर्नाति शेषः । यदि  
तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्रा-  
णेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थानजिका । न निश्चिता  
खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य  
ध्येयाकारावेशात्तुर्वावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

॥ भाषा ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्य चंद्रमा जो इडा पिंगला तिनके मध्यमें जो सवळे आकाश-  
नको समूह तामें जो स्थित सो मुद्रा खेचरी नाम कहें हैं ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ चंद्रमातें जा खेचरीमें अमृतधारा प्रगट हुई वो खेचरी शिवजीकूं बड़ी  
प्यारी हे निर्मल और सर्वनाडीनमें उत्तम एसी सुपुम्ना ताय भीतुर मुत्तमें जिह्वाकरकें  
रोक देवे ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ बहारतें सुपुम्नाकूं प्राणकरकें जो रोक देवे तो निश्चिही खेचरी नाम  
मुद्रा होय हे और जो बहार प्राणकरकें नहीं रोके भीतरही जिह्वामात्रकरकें रोक देवे  
तो मूढ अवस्थाकूं प्रगट करे हे निश्चै खेचरी मुद्रा नहीं होय खेचरी मुद्रावी अभ्यास  
करे तें उन्मनी होय हे और चित्तकूं ध्यान करवके योग्य वस्तुकें आवेशमूं तुर्वाव-  
स्था होय हे ॥ ४७ ॥

मू० भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥

ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥

संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

निरालंबं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिंतयेत् ॥

सबाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवसेश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते । शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यं । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तं । भोक्त्री सुषुम्ना कालसेति ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्रा ऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किञ्चिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारमपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्याकाशे घटवत्तिष्ठ-

॥ भाषा ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुकुटीके मध्यमें शिवजीको स्थान हे ता शिवमें मन लीन होय हे वो चित्तलयरूप जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति इनतें तुर्य पद जाननो योग्य हैं ता पदमें काल जो मृत्यु सो नहीं प्राप्त होय हे ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ संपूर्ण वृत्तीनको निरोध जवताई होय तवताई खेचरी मुद्राको अभ्यास करे सर्ववृत्ती जाकी रुक गई ताकूं कदेवी काऊ समयके बीचमेंवी काल जो मृत्यु सो नहीं होय ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ जो योगी आश्रयरहित मनकरकें कट्टी चिंतमन न करे सो योगी बहार भीतर आकाशमें घटकीसी नाई स्थित निश्चयही रहे हे जेसैं घटमें भीतर और



मू० बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥

स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥

अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥

॥ टीका ॥

ति ध्रुवं । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्या-  
मालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्या । तस्यांतःप्रवृत्त्य-  
भावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न  
संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्वीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य  
प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थि-  
रतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिदि-  
वमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जी-  
र्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चितं लीयते जीर्यतइत्य-  
र्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकं । द्वंद्वश्च

॥ भाषा ॥

वहार आकाश पूर्ण हे तेसेंही खेचरीमें आलंबन परित्यागकरके योगी ब्रह्मकरके पूर्ण  
स्थित रहे हे ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ देहमें वहार जो वायु हे सो जेसें लीन होय हे खेचरीमें ता वायुकूं भीतर  
प्रवृत्तिको अभाव हे तेसेंही देहमें रहे जो वायु सो लीन होय हे ता वायुकूं वहार  
प्रवृत्तिको अभाव हे यामें संदेह नही हे प्राणके स्थिर होयवेको स्थान ब्रह्मरंध्र तामें  
मनकरके सहित प्राण स्थिर होय जाय हे ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ या प्रकारकरके वायुमार्ग जो सुषुम्ना तामें रात्रिदिन अभ्यास कर रह्यो  
ता योगीकूं अभ्यासते जा आधारमें वायु लीन होय हे और वायु जामें लीन होय हे  
तामेही मन लीन होय हे ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ पामतें लेकर मस्तक पर्यंत देहकूं अमृतकरके सींच देवे उत्कृष्ट हे

मू० सिद्धयत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥ इति खेचरी॥  
 शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥  
 मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥  
 खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥  
 सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिंतयेत् ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

प्राणितूर्यसेनांगानामित्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं  
 देहमाप्तावयेदाप्तावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महान्तौ बलप-  
 राक्रमौ यस्येतेतादृशो योगी सिद्धयत्येव । अमृताप्तावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

शक्तिरिति ॥ शक्तिः कुंडलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदा-  
 कारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्ये-  
 कीकृत्य तेन कुंडलीं बोधयित्वेति यावत् । प्रबुद्धावन्धियोगेन मनसा मरुता सहेति  
 गोरक्षोक्तेः । मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वे-  
 त्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्मा-  
 हमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च  
 भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं-  
 ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

देह जाको महान् हे बल पराक्रम जाके एसो योगी वा अमृतके सीचिवेकरके सिद्ध  
 होय हे ॥ ५३ ॥

कुंडलिनीमें मन धारणकरके और मनमें कुंडली धारकरके कुंडलिनीके ध्यानावेशते  
 शक्ति मनकी हे ऐसें कुंडलिनी और मनकूं एककरके कुंडलीकूं बोध करायकरके अंतःक-  
 रणकरके मनकूं देखकरके सर्वोत्कृष्ट स्वरूप ताय धारण करे ॥ ५४ ॥

खमध्य इति ॥ आकाशकीसी नाई पूर्ण ब्रह्म हे सो ब्रह्ममें अपनो स्वरूप जो आत्मा  
 ताय करे ब्रह्माहं या प्रकार भावनाकरे और अपनो स्वरूप जो आत्मा तामें पूर्णब्रह्म करे  
 अहंब्रह्म या प्रकार भावना करे फिर संपूर्ण ब्रह्ममय भावनाकरके फिर कछुवी चिंत-  
 मन न करे अर्थात् अहंब्रह्म ये जो ध्यान तायवी त्याग करदे ॥ ५५ ॥

मू० अंतः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांवरे ॥

अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचितनम् ॥

सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं संकल्पमात्रकलनैव मनो-

॥ टीका ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह ॥ अंतःशून्य इति ॥ अंतः अंतःकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्धितीयशून्यः । बहिरंतः करणाद्बहिरपि शून्यः । द्वितीयादर्शनात् । अंवरे आकाशे कुंभो घटो यथांतर्वहिः शून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः । सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे समुद्रे कुंभो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचित्तेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यचिंता बाह्यविषया चिंता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचितनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः । सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचितनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् । तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शान्तिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति । सं-

॥ भाषा ॥

अंतःशून्य इति ॥ अंतःकरणमें वी शून्यहे क्यों ब्रह्मते न्यारो कछू नही हे और अंतःकरणते बहारवी शून्य हे क्यों ब्रह्मते दूसरो दीखेही नही हे याते यामें दृष्टांत हे जेसे आकाशमें घट घटके भीतरवी आकाश हे और घटके बहारवी आकाश हे और अंतःकरणमेंवी पूर्ण क्यों ब्रह्मको सद्भाव हे याते और बहारवी पूर्ण हे क्यों ब्रह्मकरके पूर्ण हे याते यामें दृष्टांत जेसे समुद्रमें कुंभ बहारवी जलभर रह्यो और भीतरवी जलभर रह्यो एसेही समाधिनिष्ठ योगी ब्रह्मकरके पूर्ण होय हे ॥ ५६ ॥

बाह्यचित्तेति ॥ योगीकूं बहारकी विषय चिंता नहीं करनो योग्य हे एसेही भीतर मनकरके कल्पना करे जाय अनेक चिंतमन सो नहीं करनो योग्य हे बहार भीतरकी चिंता परित्यागकरके कछूवी नहीं चिंतमन करे ॥ ५७ ॥

बहार भीतर चिंताके परित्याग करवेमें शान्तिहोय हे यामें वसिष्ठको वाक्य रामजी

मू० विलासः ॥ संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य नि-  
श्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥

तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥

॥ टीका ॥

कल्पेति । संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं  
दृश्यमानं समग्रं जगत् । बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य वि-  
लासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः  
संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बा-  
ह्याभ्यन्तरप्रपंचे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह ।  
निर्विकल्पेति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजाती-  
यविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रान्तो निर्विक-  
ल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हेराम निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमो-  
परतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण ।  
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखमिति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशो-  
षेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सै-  
न्धवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्म-  
नि संधीयमानं कार्यमाणं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः ॥ ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं

॥ भाषा ॥

प्रति कह्यो ताको प्रमाण दे हैं ॥ संकल्पेति ॥ बाह्य प्रपंच मनोमात्र कल्पित हे और मनको  
जो प्रपंच अनेक विकार रूप सोही संकल्पमात्रकरके ही रचना हे और बहार भीतर  
जो प्रपंच तामें जो सत्यबुद्धि ताय त्याग करो भेदरहित जो आत्मा ताय आश्रय लेकरके  
हे राम निस्संदेह शांति सुख ताय तुम प्राप्त होओगे ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ जैसे अग्नौमें शुक्त कियो कपूर अग्निके आकार होय जाय हे और जलमें  
धन्यो लवण सो लवणके आकारकूं परित्यागकरके जलाकार होय जाय हे तैसेही  
मनकूं आत्मामें लगावे तो मन आत्माकार होय हे ॥ ५९ ॥

ज्ञेयमिति ॥ संपूर्ण ज्ञानके योग्य प्रतीतमें आप रह्यो और ज्ञान सो मनकूंही कहें हे

मू० ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ॥

मनसो ह्युन्मनीभावाद्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥

मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

॥ टीका ॥

ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पन्था मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किञ्चिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सहवर्तत इति सचराचरं यज्जगत्तत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यं । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते । द्वैतभ्रमहेतोर्मनः संकल्पस्याभवात् । हि तद्धेतावव्ययं ६१

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यदृश्यं तस्य परित्यागाच्चात्मरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानन्दरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

॥ भाषा ॥

मनको लय होतें ही द्वैत जो प्रपंच ताकोबी लय होय हे ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ स्थावर जंगम सहित जो जगत् सो संपूर्ण मनके संकल्प मात्र-करके हे सो मनके लयतें प्रपंचभेद नही प्रतीतमें आवे हे ॥ ६१ ॥

ज्ञेयमिति ॥ स्थावर जंगम सहित दृश्यवस्तु जो जगत् ताके परित्याग करतें मनबी सच्चिदानन्द रूप आत्माकार होय हे और मनके लय होतेंही अद्वितीय आत्मस्वरूप अवशेष रहे हे ॥ ६२ ॥

मू० एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः ॥

समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ॥

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥

॥ टीका ॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशी-  
लनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वं च ते आचार्याश्च  
पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समर्थैश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः ।  
कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां  
ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययरहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभव-  
स्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति ॥ सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना मध्यनाडी  
तस्यै कुण्डलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राङ्गमध्यस्थाज्जन्म यस्यास्तस्यै सुधायै पीयूषायै  
मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै महती जडानां  
कार्येंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै ।  
तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रवृद्धीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

नानाविधान् समाध्युपायानुक्ता नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजा-

॥ भाषा ॥

एवमिति ॥ या प्रकार समाधिकरके शुद्ध हे अंतःकरण जिनके ऐसे महात्मा पूर्व  
आचारी तिनने नानाप्रकारके साधन जिनके संदेह रहित आत्माको अनुभव ताकरके  
युक्त समाधिके मार्ग कहे हैं ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना जो मध्यनाडी ताके अर्थ नमस्कार हे और कुण्डलिनीके अर्थ  
नमस्कार हे सुधारूप तुमारे अर्थ नमस्कार हे भृकुटीके मध्यमें चंद्रमार्ते जन्म जाको  
एसी चंद्रजन्मा तुमारे अर्थ नमस्कार हो और मनोन्मनी तुमारे अर्थ नमस्कार हे और  
चैतन्य हे स्वरूप जाको और संपूर्णमें उत्तम शक्ति पुरुषरूप ता तुमारे अर्थ नम-  
स्कार हो ॥ ६४ ॥

अब नानाप्रकारके समाधिके उपाय तिनं कहकरके अब नादको अनुसंधानरूप

मू० प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ॥

नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥

शृणुयादक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

नीते ॥ अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां  
मूढानामनधीतानां संमतं । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षना-  
थेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसं-  
धानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थीशेन  
सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकराश्चित्तलयसाधनभेदा जयन्त्युत्कर्षेण वर्तते ।  
वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचित्तनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां  
मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये  
उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह ॥ मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थि-  
तो योगी शांभवीं मुद्रामंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधी-  
रेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽतस्थमुष्मन्नाब्ज्यां संतमेव नादं शृणुयात् ।

॥ भाषा ॥

मुख्य उपाय ताय कहें हैं ॥ अशक्येति ॥ नहीं उत्पन्न हैं तत्त्वज्ञान जिनकूं और नहीं  
अध्ययन किये हैं जिनने एसेनकूं संमत हे और जो अध्ययनके करवेवाले हे तिनकूं प्राप्त  
होय ताको कहा कहनो ये गोरक्षनाथने कह्यो हे और नादकी उपासनामें अनुसं-  
धानरूप सेवन कहिये हे ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथ शिवजीनें सवाकोटिचित्तके लय होयवेके साधनभेद  
कहे हे ते उत्कर्षकरके वर्ते हे ओर हमतो नादको बारंवार चिंतन सोही केवल लय  
साधननके मध्यमें अधिक मुख्य जाने हे और गोरक्षके अभिमत हे यातें नादको अनुसं-  
धानही अवश्य करनो योग्य हे ॥ ६६ ॥

मुक्तासन इति ॥ सिद्धासनमें स्थित योगी शांभवी मुद्राकरके एकाग्रचित्तहोत दक्षिण  
कर्णमें सुषुम्ना नाडीमें स्थित जो नाद ताय श्रवण करे ॥ ६७ ॥

मू० श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥

शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥

आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥

निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

अथारंभावस्था ॥ ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो तद्यानंदः शून्यसंभवः ॥

॥ टीका ॥

तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये । आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जनपर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या इति ॥ ६७ ॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं प्राण-शब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषां । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वंद्वैक-वद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यं । निरोधनं चेत्थं । अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि चेति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह ॥ आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्थाघटावस्थापरिचयावस्थानिष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभ-व्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

तत्रारंभावस्थामाह ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः

॥ भाषा ॥

श्रवणेति ॥ कर्णयुगल नेत्रयुगल नासिका मुख इनकूं हाथकी अंगुष्ठ अंगुलिनकरकें रोकले फिर प्राणायामकरकें मलरहित जो सुषुम्नाको मार्ग तामें निर्मल नाद प्रगट श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ६८ ॥

आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था संपूर्ण योगनमें ये च्यार अवस्था हैं ॥ ६९ ॥

अथारंभावस्था ताव कहे हैं ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथीको भेदन जब होय हे तब



सू० विचित्रः कणको देहे ऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥

संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान् भवेत् ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ॥ द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥

दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

॥ टीका ॥

प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः  
आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो  
नानाविधः कणो भूषणनिनदः स एव कणकः । भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः ।  
भूषणानां तु शिजितं । निक्काणो निक्कणः क्काणः कणः कणनमित्यपीत्यमरः । अ-  
नाहतो ध्वनिरनाहतो निर्हादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाका-  
शविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियन्ते योगिभिः ।  
संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णं हृदये योग-  
वान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रताप-  
वान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति  
संबंधः ॥ ७१ ॥

घटावस्थामाह ॥ द्वितीयामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटी-  
कृत्य आत्मना सहापानं नादविंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कंठस्थाने मध्य-

॥ भाषा ॥

आनंदको देवेवालो हृदयाकाशमें उत्पन्न हुयो नाना प्रकारके भूषणनके शब्दकी सदृश  
अनाहत ध्वनी देहमें श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ७० ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्यहृदयाकाशमें नादको आरंभ होय हे और प्राणवायुकरके  
भर रह्यो हे हृदय जाको अथवा आनंदकरके पूर्ण हे हृदय जाको एसो योगी दिव्यदेह  
और तेजस्वी दिव्य हे गंध जाके और रोगरहित होय हे ॥ ७१ ॥

अब घटावस्था कहे हैं ॥ द्वितीयायामिति ॥ घटावस्थामें प्राणवायु और नादकूं एक-  
करके कंठस्थानमें मध्यचक्र तामें स्थित होय तब या अवस्थामें योगी दृढ हे आसन जाको  
और ज्ञानी और रूपलावण्यमें अधिक होय जाय यातें देवतुल्य एसो होय हे ॥ ७२ ॥

मू० विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥

अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ॥

महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

॥ टीका ॥

चक्रं । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे । मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनमिति । यदाभवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे । प्राणापानौ नादविद् जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कंठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्मेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कंठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेरीः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्यां ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायासि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानं । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

॥ भाषा ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथी भेदनके अनंतरं कंठमें वर्तमान जो विष्णुग्रंथीके कुंभक-करके भेदन तातें ब्रह्मानंदको जाननो होय हे अनेक नादनको संमर्द होय और भेरीको नादजो शब्द ताकोसो शब्द सो भेरीनाद शब्द ता कालमें होय हे ॥ ७३ ॥

अब परिचयावस्था कहें हैं ॥ तृतीयायामिति ॥ तीसरी जो परिचयावस्था तामें भृकुटीके मध्यमें जो आकाश तामें वाजेनको सो शब्द जानवेकूं योग्य होय हे ताई अवस्थामें संपूर्ण सिद्धी जे अणिमादिक तिनको आश्रयरूप स्थान भृकुटीके मध्यमें आकाश ता-प्रति प्राणवायु प्राप्त होय हे ॥ ७४ ॥

मू० चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥

दोषदुःखजराव्याधिभुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रंथि यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः कणद्वीणाकणो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥

॥ टीका ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥ तदा कदेत्यपेक्षायामाह ॥ रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथि भित्वा । आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा निष्पत्यवस्थामाह ॥ निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्यवस्थायां । ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबन्धी शब्दो निनादः कणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः कणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतं । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगा-

॥ भाषा ॥

चित्तानंदमिति ॥ अंतःकरणकी वृत्तीं हुयो सुख ताय तिरस्कारकरकें स्वाभाविक आत्मसुखको उदय होय हे तव दोष दुःख जरा व्याधी क्षुधा निद्राकरकें वर्जित योगी होय हे ॥ ७५ ॥

रुद्रेति ॥ आज्ञाचक्रमें रुद्रग्रंथि हे सो जव रुद्रग्रंथिकूं भेदकरकें शिवजीको स्थान भुक्तुमध्य तामें प्राणवायु प्राप्त होय हे तव योगी कहेगुण तेसो होय हे ॥ अव निष्पत्ति अवस्था कहें हैं ॥ ब्रह्मरंध्रमें प्राणवायु जाय तव निष्पत्ति अवस्था होय हे जव निष्पत्ति अवस्था होय तव वांशकोसो शब्द और शब्दायमान वीणाकोसो शब्द होय हे ॥ ७६ ॥

ता अवस्थामें अंतःकरण एकविषयीभूत हो जाय हे चित्तके एकाग्रताकूं ही राजयोग कहें हैं नादके अनुसंधानमें परायण जो योगी सो मृष्टि और संहार करे हे एसो योगी

मू० सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ॥

लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥

राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥

एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥

राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥

सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

भिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति ॥ असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवैश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्स्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतं । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

॥ भाषा ॥

यातेंही ईश्वरकीतुल्य होय हे ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ मुक्तिहो वा मत हो यामेंही अखंड सुख हे लयतें हुयो जो सुख सोवी राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ७८ ॥ राजयोगमिति ॥ राजयोगकूं नहीं जाने हे और केवल हठकर्मकूं करे हैं जे अभ्यासी हैं तिने श्रमके फलकरकें वर्जित मानूं हूं ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रही उन्मनी अवस्थाकी प्राप्तिके अर्थ भ्रुकुटीनके मध्यमें जो ध्यान सो स्वात्माराम जो मे सो मेरे संमत हे राजयोगपद जो तुर्यावस्था ताय प्राप्त होयवेकूं भ्रुकुटीमध्य ध्यान अल्पबुद्धी वारेनकूं सुखपूर्वक उपाय हे और नादतें हुयो जो चित्तको लय सो शीघ्रही प्रतीतिको करवेवारो होय हे ॥ ८० ॥

मू० नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥  
 आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥  
 कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥  
 तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचितनं तेन समाधिश्चित्तै-  
 काग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः  
 समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यं । इदमिति  
 वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमालहादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः  
 श्रीमान् गुरुरेव नाथो जनाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति  
 सूचितं ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह ॥ कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनि-  
 र्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पि-  
 धाय । हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्या-  
 कर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । या-  
 वत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् । तदुक्तं । तुर्यावस्थाचिदभिव्यंजकनादस्य  
 वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवंतीति । उक्तं च त्रि-  
 पुरासारसमुच्चये । विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः ।  
 अणिमादिगुणा भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य । सुरराजतनूजवैरिंद्रे  
 विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन । जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोति  
 मर्त्य इति । सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रे स्पष्टमन्यत् ॥ ८२ ॥

॥ भाषा ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादको वारंवार चित्तमनकरकें जो चित्तकी एकाग्रता ताय भर्जे  
 एसे जे योगीश्वर तिनके हृदयमें बढ रह्यो वाणीकरकें कहवेमें नही आवे एसो मुख्य आ-  
 नंद ताय एक श्री गुरुनाथ ही जाने हे और नही जाने या कहवेमें ये हे नादके अनुसंधा-  
 नको आनंद गुरूनतें ही जानो जाय हे ॥ ८१ ॥

कर्णावित्यादि ॥ योगी हाथके अंगुठानकूं कर्णमें धरके अर्थात् कान मूंदकरकें ध्वनी  
 जो अनाहत शब्द श्रवण करे ताध्वनिमें चित्त स्थिर करे जब ताई तुर्यपदकूं प्राप्त होय ८२

मू० अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥  
 पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ८३ ॥  
 श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥  
 ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥  
 आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥  
 मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

॥ टीका ॥

अभ्यस्यमान इति अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयं । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ष्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्यां ॥ आदाविति ॥ आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वायविशेषः । भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमानित्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपीत्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभावो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः । घंटाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घंटाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

॥ भाषा ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यास कियो हुयो नाद वारंके शब्दकूं आवरण करे हे और नादाभ्यासी योगी पक्षमात्रमें संपूर्ण चित्तको चांचल्यता ताय जीतकरके सुखी होय ॥ ८३ ॥ श्रूयते इति ॥ प्रथम अभ्यासमें अनेक प्रकारको महान् समुद्र और मेघ और भेरीकूं आदिलेके जे शब्द तिनकीसदृश नाद श्रवण करिये हे ता पीछें नादानुसंधान को अभ्यास बढे जव सूक्ष्म सूक्ष्मही श्रवण करवेंमें आवे हे ॥ ८४ ॥

नानाप्रकारको नाद कहे हैं ॥ जव वायु ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे हे ता समयमें आदि मेतो समुद्र मेघ भेरी डमरु इनके शब्दको सो शब्द होय हे और मध्यमें पणव और

सू० अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥  
 इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥  
 महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥  
 तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥  
 घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥  
 रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

॥ टीका ॥

अंते त्विति ॥ अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयन्ते ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरी-शब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ष्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमसूक्ष्मं नादमेव परामृशेचितयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घन-सूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

॥ भाषा ॥

शंख घंटा काहलको रव जो हे सो इनके शब्दकोसो शब्द होय हे ॥ ८६ ॥

अंते त्विति ॥ और अंतमें तो प्राणकूं ब्रह्मरंध्रमें वहीत स्थिर हुयेक अनंतरतो किंकिणी जो क्षुद्रघंटिका वेणु वीणा भ्रमर इनके शब्दकेसे शब्द नानाप्रकारके देहमध्यमें प्राप्त हुये श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदिले वाजे इनके शब्द श्रवण करे तब नादनमें सूक्ष्मसुंवी सूक्ष्म नाद ताय चित्तमन करे ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदिले तिनको महान् नाद ताय महान्नादमें छोडकरके और सूक्ष्ममें सूक्ष्म नादताय छोडकरके रजोगुणकरके अत्यंत चंचल मन ताय और विषयनमें प्रेरणा करे ॥ ८८ ॥

मू० यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥  
 तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥८९॥  
 मकरंदं पिबन् भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥  
 नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥ ९० ॥  
 मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥  
 नियमने समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

॥ टीका ॥

अत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्धने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषयान्-त्यवब्रंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः सूक्ष्मचंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रो । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशि-तांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियमेन परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । चरतां चक्षु-रादीनां विषयेषु यथाक्रमं । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः । इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

॥ भाषा ॥

जा काउ महात्मादमें और सूक्ष्मनादमें पूर्व मन लगे होय ताही नादमें स्थिर होय-करके ता नादकरके सहित लीन होय हे ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ जैसे भ्रमर पुष्पको रस ताय पानकरत गंधकूं नही इच्छा करे हे तेसेही नादमें आमक्त हुयो चित्त सो विषय जे पुष्प चंदन स्त्रियादिक तिने नही कांक्षा करे हे निश्चय होय ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयरूपी वनमें विचरे ताको मन सोही हुयो मतवालो गजेंद्र ताके पीछे वगदायवेमे समर्थ तीक्ष्ण अंकुशरूप नादही हे ॥ ९१ ॥



मू० बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥

प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥

नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥

नादोऽंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥

अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

॥ टीका ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तं । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अतएव सम्यक्त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणामेति । तत्र दृष्टान्तमाह । छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियं । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये । शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता बांछता पुंसा नाद एवानादतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचितनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः एतेन तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः पद्भिर्निष्पाद्यते नृप । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तं ॥ ९३ ॥

नादोऽंतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालं । यथा वागुरा बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं

॥ भाषा ॥

बद्धं त्विति ॥ नादरूपी बंधनकरके बंधो हुयो जली प्रकार त्याग क्रियो हे चपलता जाने एसो मन अधिककर स्थिरताकूं प्राप्त होय हे छिन्न हुये हैं पक्ष जाके एसो पक्षी स्थिर होय हे तेसैं ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ एकाग्रचित्तकरके संपूर्ण बहारभीतरकी चिंता ताय परित्यागकरके राजयोगपदकूं इछा करे ता पुरुषकरके नादही अनुसंधान करनी योग्य हे ॥ ९३ ॥

नादोऽंतरंगेति ॥ ये नाद अंतरंग मनरूपी जो सारंग मृग ताके बांधवेमें वा चंचलता ताई

मू० अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिधायते ॥

नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥

बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥

मनः पारदमाप्नोति निरालंबारख्येऽटनम् ॥ ९६ ॥

॥ टीका ॥

हरति तथा नादोऽंतरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुरावद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोऽंतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिधायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणाद्ध तथा नादोऽंतरंगस्येत्यर्थः । अतःकारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरूपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययं ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादेकासक्तं पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तं अतएव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनः पारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं तदेव

॥ भाषा ॥

दूर करवेंमें जाल कीसी नाई हे जेमें जालके बंधनकरके सारंगको चांचलपनो दूर होय हे तेमेंही नाद अंतरंग मनकी चांचल्यताकूं अपनी शक्तिकरके दूर करे हे अंतरंग मन सोही हुयो हरिण ताके बंधनमें व्याधकीसीनाई आचरण करे हे ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ योगीको अंतरंग मनरूपी घोडा ताय रोकवेकी लोहेकी आगलकीसी-नाई नाद हे जेमें घोडा शालाके द्वारमें लोहेकी आगल लगाय घोडाकी बहारगतीकूं रोके हे तेमेंही अंतरंग मनकूं विषयनतें रोकवेवालो नाद हे यातें योगीकरके नादउपासना नित्यप्रति धारण करना योग्य हे निश्चयकरके ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नादके जारणतें बंधो हुयो और दूर होय गयो हे चंचलता जाको एसोमन निरालंब ब्रह्माकार वृत्तिको प्रवाह अखंड करे हे जेमें गंधकके जारणतें बंधो हुयो पारद-को गुटिका मुखमें रखतें आकाशगती करे हे तेमेंही ॥ ९६ ॥

मू० नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥

विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ ९७ ॥

काष्ठे प्रवर्तितो वन्हिः काष्ठेन सह शाम्यति ॥

नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥

घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥

प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

स्वमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहं । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाह-  
मविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव  
भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः । सर्वं विश्वं विस्मृत्य  
विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि  
धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । तस्यैव कल्पनादीनां स्वरू-  
पग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयत इति विष्णुपुरा-  
णोक्तलक्षणस्तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरिति पातंजलसूत्रोक्त-  
लक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वन्हिः काष्ठेन सह शाम्यति  
ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन  
सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र  
च मैत्रायणीयमंत्रः । यथा निरिधनो वन्हिः स्वायोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्ष-  
याच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यतीति ॥ ९८ ॥

घंटादिति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझञ्जरदुन्दुभिजीमूतादीनां ते घंटादयः-

॥ भाषा ॥

नादेति ॥ अनाहन नादके श्रवणकरके शीघ्र अंतरंग मनरूपी सर्प संपूर्ण विस्मरण  
होयकरके एकाग्रचित्त होय कहूँही विषयांतरमें नही छोरे ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठमें प्रवर्त हुयो अग्नि काष्ठकरके सहित ज्वालारूप परित्यागकरके  
शांति होय हे तेसैंही नादमें प्रवर्त हुयो चित्त नादकरके सहित लीन होय हे ॥ ९८ ॥  
घंटादीति ॥ घंटादिकनके शब्दनमें आसक्त यातैंही निश्चल अंतःकरण रूप हरिणको

मू० अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥

ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अतएव स्तब्धो निश्चलो योऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरव-  
द्भुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य  
संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यं ॥९९॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते  
श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारता-  
मापन्नं मनोऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं  
संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्या-  
न्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपं ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्क-  
ल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वादुणगुणिनोर्भेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विल-  
यान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परंब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमा-  
त्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमा-  
त्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

प्रहार नानावृत्तिनको रोकनो सहज हे ॥ ९९ ॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहत शब्दकी जो ध्वनी श्रवण करे हे ता ध्वनीके भीतर स्वप्र-  
काश चैतन्य तामें अंतर्गत प्राप्त मन सो मन चैतन्यमें लय होय हे सो विष्णुको परमपद  
योगीनकरकें प्राप्त होय हे ॥ १०० ॥

तावदिति ॥ जितनें नाद श्रवणकरवेमें आवे हे तव तलक आकाश रहे हे जब मन  
करकें सहित शब्दको लय होय हे और नादके लय हो तेंही चित्त अपने स्वरूप  
करकें स्थित होय हे शब्दरहित जो ब्रह्म हे ताय परमात्मा कहे हैं ॥ १ ॥

मू० यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥

यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ २ ॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥

राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ ३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥

उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

यत्किञ्चिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किञ्चिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वांतस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसन-कुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनीकल्पलतिको-

॥ भाषा ॥

यत्किञ्चिदिति ॥ नादरूप करके जो कछु श्रवण करवेमें आवे हे सो शक्ती है ओर जो तत्त्वको लय जामें होय और आकाररहित होय सोहि परमेश्वर हे ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ ये संपूर्ण हठ लयके उपाय आसन कुंभक मुद्रा ये हठके उपाय हैं और नादानुसंधान शांभवीमुद्रादिक ये लयके उपाय हैं ये राजयोग जो सर्ववृत्तीनको रोकनो ताकी सिद्धीके अर्थ कहें हैं राजयोगकूं प्राप्त हुयो जो पुरुष सो मृत्युकूं जीतवेवारो होय हे ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वतो चित्त और बीज उन्मनी अवस्थाको अंकुर और हठ प्राणायाम और क्षेत्र उदासीनता जल इन तीनोंकरके उन्मनीअवस्था सोहि कल्पलतिका संपूर्ण इष्टकी करवेवाली सो शीघ्रही उत्पन्न होय हे ॥ ४ ॥

मू० सदा नादानुसंधानात् क्षीयंते पापसंचयाः ॥

निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५ ॥

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ ६ ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

तपत्तैरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ ४ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचितनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ ५ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः । शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

जाग्रत्सप्रसुप्तिसमूर्द्धामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वायाश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधो-

॥ भाषा ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादके अनुसंधानतः पापनको समूह नाशकं प्राप्त होय हे निर्गुण चैतन्यमें निश्चैही चित्त और वायु ये दोनो लीन होय हे ॥ ५ ॥

शंखदुंदुभीति ॥ उन्मनी अवस्थाकरके योगीको देह काष्ठकीसी नाई निश्चेष्टावान् होजाय हे तब शंख दुंदुभीनको नाद ताय कोई समयमें नहीं श्रवण करेहैं ॥ ६ ॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मूर्द्धा मरण ये पांच अवस्थानकरके रहित होय और संपूर्ण चिन्ताकरके रहित होय और मृतकीसी नाई स्थित होय सो तुर्य अवस्थावान् योगी जीवतोही मुक्त हे ॥ ७ ॥

मू० खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥

साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ८ ॥

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥

नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९ ॥

चित्तं न सुप्तं नोजाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥

॥ टीका ॥

ऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजले सूत्रे । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्लेश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रं । ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरिति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् पद्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनीत्यमरः ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तं । आवरकस्य तमसोऽभावा-

॥ भाषा ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिकरके युक्त योगी मृत्युकरके नहीं नाशकूं प्राप्त होय हे किये-हुये जे शुभ अशुभ कर्मकरके जन्ममरणादिककरके जे क्लेशते नहीं ही होय कोई पुरुषकरके अथवा यंत्र तंत्र मंत्रादिककरके नहीं साधन करवेकूं समर्थ ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिकरके युक्त योगी गंध दुर्गंध ताय नहीं जाने हैं और मीठो कड़वो कषायलो तीखो लवण अम्ल इनकूं नहीं जाने हैं और रूप जो श्वेत नील लाल हरित पीलो इनें नहीं जाने हैं और स्पर्श जो शीत उष्ण इनकूं नहीं जाने और शब्द शंख नगाडे समुद्र मेघादिकनके शब्द और आत्मा जो देह ताय और पुरुषांतर इनकूं नहीं जाने हे ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ जा योगीको चित्तसूतो न होय जागतोवी न होय और स्मृतीवी न होय

मू० न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ १० ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥

न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ११ ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥

निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिगुणैऽतःकरणे यदा सत्तरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदातःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इन्द्रियै-  
रर्थग्रहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितं । वृत्तिसामा-  
न्याभावादुद्धोषकाभावाच्च स्मृतिवर्जितं । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिव-  
र्जितं । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्यु-  
द्भवति । वृत्त्यनुत्पादनात् सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णं । समा-  
हारद्वन्द्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न  
सुखं सुखसाधनं सुराभिचंदनाद्यनुलेपनादिकं । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं  
न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नैन्द्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्च्छादिव्यावृत्तिः ।  
जाग्रदवस्थायां मित्यनेन स्वप्नपुष्ट्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं का-  
यैन्द्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । समवप्रविभ्यः स्थ-  
इत्यात्मनेपदं । निश्वासोच्छ्वासहीनः वाहवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य  
वायोर्विहर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । सनि-

॥ भाषा ॥

विस्मृती न होय नाशकृती प्राप्त न होय और उदयवी न होय एसो योगी जीव-  
न्मुक्त हे ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधियुक्त योगी शीत उष्ण सुप्त मान अपमान इनकूं नही  
जाने हे ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ प्रसन्न हे अंतःकरण जाको एसो योगी जाग्रद अवस्था में सुप्तकी तुल्य  
स्थित होय श्वासनिश्वासकरके रहित स्थित होय सो जीवन्मुक्त हे ॥ १२ ॥



सू० अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥

अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

श्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवनमुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण । निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवनमुक्तो भवेत् ध्रुवमिति ॥ १२ ॥

अवध्यइति ॥ समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये पृष्टी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्र-  
विवक्षायां पृष्टी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्रा-  
णां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयो-  
गस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि  
प्रदर्श्यते । दत्तात्रेयः । आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी  
च तृतीयो मंत्रसाधनं । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुरिति । मार्कंडेय-  
पुराणे । उपसर्गाः प्रवर्तते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन  
निबोध मे । काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवाञ्छति । स्त्रियो दानफलं  
विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु । देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियां । मेरुं प्रयतनं यज्ञं  
जलाभ्यावेशनं तथा । श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासा-  
त्पूर्त्ताच्च देवपित्रर्चनादपि । अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति । विघ्नमि-  
त्थं प्रवर्तेत यन्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते इति ।  
पद्मपुराणे । यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसं । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मा-  
तिदुर्लभं । योगभास्करे । सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं  
मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते । एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदानिस्पृहः । सि-  
ध्वादिवासनात्यागी जीवनमुक्तो भवेन्मुनिरिति । विस्तरस्य भिया नोक्ताः सन्ति  
विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेनविष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिनेति ॥ १३ ॥

॥ भाषा ॥

अवध्य इति ॥ समाधिकरके युक्त योगी सवले शस्त्रनकरके नाश होयवेकू अशक्य हे  
और सर्व देहधारीनकर पराक्रमकरके समर्थ नहीं हे और मंत्र यंत्र तंत्रादिकनकर वशी-  
करण मारणादिक करवेकू समर्थ नहीं ॥ १३ ॥

मू० यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे  
यावद्विंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥

॥ टीका ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन् योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह ॥ यावदिति॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंतं न विशति । ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रंगत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ । यावद्विमार्गो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगमिति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबंधात्कुम्भकेन स्थिरीकरणाद्विंदुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये विंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक् । मनःस्थैर्यं स्थिरो वायुस्ततो विंदुः स्थिरो भवेदिति । तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः । उक्तममृतसिद्धौ । तावद्ब्रह्मोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेन्द्रो ब्रह्मरूपकः । असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणं । जरामरणसंकीर्णं सर्वलेशसमाश्रयमिति । यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहान्नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते वायुस्थैर्यं चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ । यदासौ श्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा विंदुश्चित्तं च श्रियते वायुना सह । तदभावेऽह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ । यावत्प्रसंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितमिति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिध्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामिति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणविंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संस्मृतिदुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ । चलत्येव यदा वायुस्तदाविंदुश्चलः स्मृतः । विंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलं । चले विंदौ चले चित्ते चले वार्यो च सर्वदा । जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वच इति । योगवीजेऽप्युक्तं । चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्ष इति । एतेन प्राणविंदुमनसां जये तु ज्ञा-

॥ भाषा ॥

यावदिति ॥ सुषुम्नामार्गमें गमन करत प्राणवायु जवताई ब्रह्मरंध्रपर्यंत नही प्रवेश करे हे और प्राणवायुकुं कुम्भकरके स्थिर करवेंतें वीर्य जवताई स्थिर नही होय और

मू० यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं

तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिध्याप्रलापः ॥ १४ ॥

इति श्रीसहजानन्दसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ टीका ॥

नद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सूचितं । तदुक्तममृतसिद्धौ । यामवस्थां व्रजेद्वायुर्विदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा विदुप्रसाधनं । मूर्च्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरी लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः । यथावस्था भवेद्विदोश्चित्तावस्था तथा तथा । ननु । योगास्त्रयो मया प्रोक्ता तृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचिदिति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न तेषां योगांगेष्वंतर्भावात् । तथाहि । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायैऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनं । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायैऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन । सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैरिति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता । अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकं । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृत इति युक्तिभिरनवरतमनुचितनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानैऽतर्भावः । तस्यापितत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुध्य निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगैऽतर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायां ।

॥ भाषा ॥

जवताई तन्वके चितमनमें चित्त ब्रह्मके आकार वृत्तिप्रवाह नही होय तवताई जो ज्ञान कहे ज्ञानके कहवेकरके में पूजवेके योग्य होय जाउंगो या बुद्धीकरके कहे तो बी क-

॥ टीका ॥

उपवासपराकादिकृच्छ्राद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तममिति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः । वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षत इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तं । स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । मुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनमिति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । केशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनमिति । नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमोऽतर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना । ईश्वरप्रणिधानाद्वेति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्ममाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः । प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयकैर्कांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्न इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु । द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिरिति । तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहीति श्रुतेः । भक्त्या मामभिजानातीति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वं । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखधारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धं ॥ ११४ ॥

प्राप्तमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्शयसंस्कृतं । रक्ष गच्छति पयो न लेहितं त्वं इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥ सदर्थज्योतनकरी तमस्तोमविनाशिनी ॥ ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांग्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायी समाधिनिर्गुणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

॥ भाषा ॥

हनां कपटपूर्वकं मिथ्याभाषणं जाननो या अष्टांग योगतै न्यारो कछूवी परम पुरुषार्थसाधनं नही है ॥ १४ ॥

( १८४ )

## हठयोगप्रदीपिकायां

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां दध्यङ्कुलोत्पन्नजटाशंकरात्मजश्रीधरकृतायां मनोमि  
लाषिष्यभिधायाम् समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥२॥ भाषाग्रंथसंख्या ॥ १६९७ ॥

इदं पुस्तकं १८०४ परिमिते शालीवाहनशके तथा १९३८ परिमिते विक्रमसं-  
वत्सरे । अधिकश्रावणकृष्णैकादश्यां सौम्यवासरे मुंबापुर्यां निर्णयसागराख्यमुद्रण-  
यंत्रालये । सवाईजयपूरनामकराजधानीनिवासिना दध्यङ्कुलोत्पन्नेन ज्योतिर्विदु-  
पनाम्ना योगमार्गप्रवीणविद्वद्भिर्यजटाशंकरात्मजेन श्रीधरसंज्ञकेन । खंडूभाई नागरभाई  
देसाई इत्यस्य साहाय्येन मुद्रापयित्वा प्राकाश्यं प्रणीतम् । अनेन श्रीगङ्गाकृष्णः  
प्रीयताम् ॥      ॥ ४ ॥      ॥ ४ ॥      ॥ ४ ॥      ॥ ४ ॥      ॥ ४ ॥

